दर्शन का प्रयोजन

दर्शन का प्रयोजन

डाक्टर भगवान्दास

१९४०
हिंदुस्तानी एकेडेमी
संयुक्तप्रांत
इलाहाबाद

हिंदुस्तानी एकेडेमी
संयुक्तप्रांत
इलाहाबाद

मूल्य दो रुपए

ओङ्कार प्रसाद गौड़, मैनेजर,
कायस्थ पाठशाला प्रेस व प्रिंटिंग स्कूल, प्रयाग

पाठकों से निवेदन

संयुक्तप्रांत की हिंदुस्तानी ऐकेडेमी की ओर से, जेनरल सेक्रेटरी डाक्टर ताराचंद जी ने, सन् १६२६ ई० के अंत में, पत्र द्वारा मुझे निमंत्रण भेजा, कि दर्शन के विषय पर दो व्याख्यान प्रयाग में दो। तदनुसार, ता० १० और ११ जनवरी, सन् १६३० ई० को, मैं ने दो व्याख्यान दिये। विषय 'दर्शन का प्रयोजन' था। डाक्टर ताराचंद जी ने कहा कि इनको विस्तार से लिख दो तो छपा दिये जायँ। मैंने स्वीकार किया।

तीन महीने के बाद, देश में 'नमक-सत्याग्रह' का हलचल आरंभ हो गया; सन् १६३१ ई० में बनारस और कानपुर में घोर साम्प्रदायिक उपद्रव हुए; सन् १६३२ ई० में फिर 'सविनय अवज्ञा' आरंभ हुई, जिस की परंपरा सन् १६३४ ई० की गर्मियों तक रही; इन सब के संबंध में मुझे बहुत व्यग्रता रही, जिस को विस्तार से लिखने का यहां प्रयोजन और अवसर नहीं। सन् १६३४ के अंत में, मित्रों ने, जिन को मैं 'नहीं' न कर सका, मुझे कांग्रेस की ओर से, सेंट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली में जाने के लिये विवश किया।

सन् १६३४ ई० की गर्मियों में, बनारस के पास चुनार के छोटे नगर, क्या ग्राम, में, गंगा के किनारे रह कर, उन दो व्याख्यानों के अधिकांश का विस्तार लिख कर, जेनरल सेक्रेटरी जी के पास भेजा। सितम्बर, सन् १६३६ ई० में, जब मैं असेंबली के काम से शिमले में था, पहिले प्रूफ़ मिले। कभी कदाचित् प्रेस की ओर से देर होती थी, पर अधिकतर मेरी ओर से; कुछ तो मेरी प्रकृति के दोष से, कि एक चलते हुए काम को समाप्त किये बिना, मित्रों के निर्बन्ध से, दूसरे काम उठा लेता हूं; और कुछ अनिवार्य झंझटों और विघ्नों के कारण। इन हेतुओं से छापने के काम में विलंब होता रहा। लेख का विस्तार भी, प्रूफ़ों में, होता गया।

सन् १६४० ई० की गर्मियों तक चार अध्याय पूरे छप गये। इनमें यह दिखाने का यत्न किया है, कि सांसारिक और पारमार्थिक दोनों ही सुखों का उत्तम रूप बतलाना, और दोनों के साधने का उत्तम उपाय दिखाना—यही दर्शन का प्रयोजन है। इन दोनों सुखों के साधने के लिए समाज की सुव्यवस्था कितनी आवश्यक है; और दर्शनशास्त्र, आत्म-विद्या, अध्यात्म-विद्या, के सिद्धांतों के अनुसार, उस व्यवस्था का क्या उत्तम रूप है; यह चौथे अध्याय में दिखाया है।

इतने से पुस्तक का मुख्य उद्देश्य पूरा हो गया; अपना वयस्, और उस के साथ साथ तन और मन का थकाव, भी दिन दिन बढ़ता जाता है; यह देख कर जी चाहा कि इस काम को यहीं समाप्त कर दें। पर, पहिले से यह विचार था, प्रयाग के दूसरे व्याख्यान के अंत में इस का कुछ संकेत भी किया था, कि दर्शन के इतिहास

का एक 'विहंगमावलोकन' (बर्ड्ज़-आइ-व्यू) भी, प्रयोजन के वर्णन के साथ, समाविष्ट कर दिया जाय; क्योंकि, प्रायः उस से भी इस विश्वास का समर्थन होगा, कि प्रत्येक देश और काल में, विचारशील सज्जनों ने, दर्शन का अन्वेषण, इसी आशा से किया, चाहे उस आशा का रूप अस्पष्ट अव्यक्त ही रहा हो, कि उस से चित्त को शांति भी, और सांसारिक व्यवहार में सहायता भी, मिलेगी। इस हेतु से, इस लालच ने बल पकड़ा कि यह अंग भी पूरा कर दिया जाय। यह जानकर भी, कि डाक्टर ताराचंद जी जेनरल सेक्रेटरी को, उनके कार्यालय को, और छापाखाने को, क्लेश दे रहा हूं, मैंने डाक्टर ताराचंद जी को लिखा कि, जहां आपने इतना धैर्य किया, कुछ सप्ताहों के लिये और धीरज धरें। उन्होंने दया करके स्वीकार कर लिया।

पर उन को यह नया क्लेश देना मेरी भूल ही थी। आकांक्षा बड़ी, शक्ति थोड़ी, काम बहुत बड़ा! आशा यह की थी कि चीन-जापान, हिंदुस्थान, अरब-ईरान, यहूदिस्तान, ग्रीस-रोम, मध्य कालीन (मेडीवल) और अर्वाचीन (माडर्न) यूरोप-अमेरिका—इन सब देशों के दर्शन के इतिहास का दिग्दर्शन, जिस को, बीस पच्चीस बडी संचिकाओं में भी, बहुत संक्षेप से भी, समाप्त करना कठिन है, मैं, कुछ सप्ताहों में, और एक ही अध्याय में, और वह भी ७२ वर्ष के वयस् में, लिख लूँगा!

यद्यपि मैंने मन में इस विहगावलोकन की रूप-रेखा सोच ली थी; और, जो थोड़ी सी पुस्तकें विविध देश काल के दार्शनिकों के विचारों के संबंध में देख पाई थीं, उन से मुझे यह निश्चय भी हो गया था, (और है), कि इन ग्रंथों में शब्दों ही की भरमार और भिन्नता बहुत, अर्थ थोड़े और सब में समान ही; जैसे एक मनुष्य, बदल-बदल कर, सैकड़ों प्रकार के वस्त्र पहिनै, तो वस्त्रों का ही भेद हो, पर मनुष्य का एक ही सच्चा रूप रहै; और इस रूपरेखा और इस विचार के अनुसार लिखना भी आरंभ कर दिया; पर थोड़े ही दिनों में विदित हो गया कि, एक-एक देश के दार्शनिकों में से, प्रत्येक शताब्दी के लिये, सामान्यतः एक-एक वा दो-दो मुख्य मुख्य दार्शनिकों को चुन कर, और उन के एक-एक भी मुख्यतम विचार का निश्चय करके, निरी सूची मात्र भी प्रस्तुत कर देना, महीनों, स्यात् बरस दो बरस, का समय चाहेगा; उस पर भी निश्चय नहीं, अपितु बहुत संदेह, कि निरंतर काम कर सकूंगा। यदि निरंतर काम कर सकने का निश्चय होता, तो स्यात् समाप्त कर सकने का भी कुछ निश्चय होता। बुढ़ापे की बुद्धि-शक्ति का वर्णन, एक हिन्दी कवि ने बहुत मनोहर किया है।

छिन मा चटक, छिनहिं मा मद्धिम, बिना तेल जस दीप बरन।

फ़ारसी का एक शेर इस भाव को दूसरी सुंदर रीति से कहता है।

गहे वर तारुमे आला नशीनम, गहे बर पुश्ति पाये ख़ुद न बीनम।

"कभी तो, मानो बहुत ऊँचे गोपुर, अटारी, मीनार, के ऊपर बैठा हुआ बहुत दूर-दूर की वस्तुओं को देखता हूं। कभी अपने पैर को भी नहीं देख सकता

हूं ।" दो दिन चित्त में स्फूर्त्ति होती है, तो चार दिन म्लानि-ग्लानि, सब शक्तियां शिथिल ।

ऐसी अवस्था में, पोली आशाओं पर, पुस्तक को न जाने कितने दिनों तक मुद्रणालय में पड़ा रहने देना, नितांत अनुचित, और हिंदुस्तानी ऐकेडेमी के कार्यालय पर अत्याचार होगा । इस लिये अब निश्चय कर लिया कि, जितना छप गया है उस को यहीं समाप्त कर के, पुस्तक को प्रकाशित कर ही देना उचित है । और इस को समग्र पुस्तक का प्रथम भाग समझना चाहिये ।

विहगमावलोकन का काम, जो आरंभ हो गया है, उस को शक्ति और समय के अनुसार (—'समय' इस लिये कि अभी भी दूसरी झंझटों से सर्वथा अवकाश नहीं है—) चलता रक्खूंगा । यदि शरीर और बुद्धि ने साथ दिया, और काम पूरा हो गया, तो इस ग्रंथ के दूसरे भाग के रूप में वह प्रकाशित होगा ।

यहां यह लिख देना आवश्यक है कि इस ग्रंथ में 'कापी-राइट' का अधिकार, हिंदुस्तानी ऐकेडेमी, यू० पी०, को, पुस्तक के प्रकाशित होने के पीछे, तीन वर्ष तक, अर्थात् सन् १९४३ के अंत तक रहैगा । इस के अनंतर जिस का जी चाहै इसको, या किसी अन्य भाषा में इस के अनुवाद को, छपा सकैगा । हिंदुस्तानी ऐकेडेमी, जिन पुस्तकों को छापती हैं, उन के लेखकों को पुरस्कार दिया करती हैं । मेरी जीविका दूसरे प्रकार से उपलब्ध है, इस लिये मैं अपने ग्रंथों के लिये पुरस्कार, 'रायल्टी' आदि, नहीं लेता; मैंने जेनरल सेक्रेटरी जी को यह लिखा, कि मुझे पुरस्कार न देकर, उस के विनिमय में, यह स्वीकार कर लें कि तीन वर्ष पीछे इसमें 'कापीराइट' न रहैगा । उन्होंने हिंदुस्तानी ऐकेडेमी, यू० पी०, की ओर से यह स्वीकृति मुझको लिख भेजी । यह प्रबंध मैंने इस लिये कर लिया है कि, इस ग्रन्थ में कोई मेरी उपज की नई बात नहीं है, सब पुरानी आर्ष बातें ही लिखी हैं, और मेरी हार्दिक इच्छा यह है कि उन बातों का अधिकाधिक प्रचार हो, 'कापीराइट' आदि के कारण उस प्रचार में कमी न हो ।

एक बात और लिख देना उचित (मुनासिब) जान पड़ता है । कुछ लोगों की ऐसी धारणा (ख़याल) है, कि हिंदुस्तानी ऐकेडेमी के उद्देश्यों (मक़सदों) में एक यह भी था कि जिन पुस्तकों (किताबों) को यह संस्था (इस्टिट्यूशन, सीग़ा, सरिश्तः) प्रकाशित (शायः) करै, उन की भाषा (ज़बान) ऐसी हो जिस से हिन्दी उर्दू का झगड़ा मिटै, और दोनों के बीच की एक ऐसी बोली, "हिंदुस्तानी" के नाम से, बन जाय, जो दोनों का काम दे सकै, और सारे भारतवर्ष (हिंदुस्तान) में फैलै । थोड़ा बहुत जतन (यत्न, कोशिश) इस ओर मैंने भी छोटे मोटे लेखों (तहरीरों) में किया, पर मेरे अनुभव (तजुबे) का निचोड़ यही है कि, ऐसी बोली साधारण (मामूली) काम के लिये तो बहुत कुछ इस समय (वक़्त) भी चल रही है, और कुछ अधिक (ज़्यादा) भी चलाई जा सकती है; पर शास्त्रीय वादों, लेखों, और ग्रन्थों, (इल्मी तक़रीरों, तहरीरों, और किताबों) के काम के लिये नहीं बन सकती;

इस काम के लिये या तो संस्कृत के शब्दों को, या अरबी-फ़ारसी के लफ़्ज़ों को, बहुतायत से लिखना बोलना पड़ैगा। पर यह अवश्य (ज़रूर) करना संभव (मुमकिन) भी है, और उचित (मुनासिब) भी है, कि, जहां तक हो सके, संस्कृत शब्दों के साथ, 'ब्रैकेट' में, उनके तुल्यार्थ (हम-मानी) अरबी-फ़ारसी शब्द, और अरबी-फ़ारसी लफ़्ज़ों के साथ उनके समानार्थ (हम-मानी) संस्कृत शब्द, भी लिख दिये जाया करें। इस रीति (तर्कीब) में कुछ दोष (नुक़्स) तो हैं ही; पढ़ने वालों को कुछ पीड़ा (तकलीफ़) होगी, जैसे रोड़ों पर दौड़ती हुई गाड़ी में बैठे यात्री (मुसाफ़िर) को; पर गुण (वस्फ़) यह है कि उर्दू जानने वालों को हिंदी के भी, और हिन्दी जानने वालों को उर्दू के भी, पाँच पाँच सात सात सौ शब्दों का ज्ञान (इल्म) हो जायगा, और एक दूसरे के वार्त्तालाप (गुफ़्तोगू, तक़रीर) और लेख (तहरीर) समझना सरल (सहल) हो जायगा। यह तो स्पष्ट (ज़ाहिर) ही है कि वाक्यों (जुम्लों) की बनावट (रचना, तर्कीब) हिंदी और उर्दू दोनों में एक सी है, और क्रिया (फ़ेल) के पद (लफ्ज़) भी दोनों में अधिकतर (ज़्यादातर) एक ही हैं; भेद (फ़र्क़) है तो संज्ञा-पदों (इस्म के लफ़्ज़ों) में है। इन थोड़े से वाक्यों (जुम्लों) में, मेरे मत (राय) का उदाहरण (नमूना) भी दिखा दिया गया है, और इस ग्रन्थ (किताब) में कई स्थलों (जगहों) पर भी इस रीति (तरीक़े) से काम लिया गया है।

परमात्मा से, (रूहुल रूह, रूहि-आज़म, से) मेरी हार्दिक प्रार्थना है, (दिली इल्तिजा है), कि इस किताब के पढ़ने वालों के चित्त को शांति, (सल्म), मिलै, और समाज के, (इन्सानी जमाअत के), व्यवस्थापकों (मुन्तज़िमों) और सुधारने वालों का ध्यान इस देस के पुराने ऋषियों, (रसीदः बुज़ुर्गों) के दिखाये हुए मार्ग की (राह की) ओर झुकै। तभी दर्शन का, (फ़ल्सफ़ा का), प्रयोजन सिद्ध होगा, (मक़सद हासिल होगा)। सांसारिक और पारमार्थिक, (दुनियावी और इलाही, रूहानी), दोनो सुखों को साधने का मार्ग जो दरसावै, वही सच्चा दर्शन; यही दर्शन का प्रयोजन है।

यद् आभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च,
सुखं साधयितुं मार्गं दर्शयेत् तद् हि दर्शनं।

बनारस,
१५ सितम्बर, १९४०

आप का शुभचिंतक (खैर-अंदेश)
भगवान्दास

विषय-सूची

पृष्ठ

———

पहला अध्याय

दर्शन का मुख्य प्रयोजन

सनत्कुमार और नारद की कथा

उपनिषदों में कथा है, सनत्कुमार के पास नारद आए, कहा, "शिक्षा दीजिए।"

अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः। तं होवाच, यद्वेत्थ तेन मोपसीद, ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामि, इति। स होवाच, ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदं आथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं।दैवं निधिं वाकोवाक्यं एकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यां, एतद् भगवोऽध्येमि। सोऽहं भगवो मंत्रविदेवास्मि, नात्मवित्। श्रुतं हि मे भगवद्दृशेभ्यः तरति शोकमात्मविद् इति। सोहं भगवः शोचामि। तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतुं। (छांदोग्य, अ० ७)

सनत्कुमार के पास नारद आए, प्रार्थना की, "मुझ को सिखाइए"। सनत्कुमार ने कहा, "जो सीख चुके हो वह बताओ, तो उस के आगे की बात तुम से कहूँ।" बोले, "ऋक्, यजुः, साम, अथर्व, ये चारों वेद, पंचम वेद रूपी इतिहास पुराण जिस के बिना वेद का अर्थ ठीक समझ में नहीं आ सकता, वेदों का वेद व्याकरण, परलोकगत पितरों से और इस लोक में वर्तमान मनुष्यों से परस्पर प्रीति और सहायता का बनाए रखने वाला श्राद्धकल्प, राशि अर्थात् गणित, दैव अर्थात् उत्पात ज्ञान शकुन ज्ञान, अथवा दिव्य प्राकृतिक शक्तियों का ज्ञान, निधि अर्थात् पृथ्वी में गड़े धन का ज्ञान, अथवा आकर शास्त्र, वाकोवाक्य अर्थात् तर्क शास्त्र, उत्तर-प्रत्युत्तर शास्त्र, युक्ति-प्रतियुक्ति

गिर पड़ा। शरीर बच्चे का था, जीव पुराना था। संसार चक्र में, प्रवृत्ति मार्ग पर, उस के भ्रमने की अवधि आ गई थी। यम लोक, अंतर्यामी लोक, यम-नियम लोक, स्वप्न लोक को गया। यमराज अपने गृह पर नहीं थे। तीन दिन बालक उन के फाटक पर बैठा रहा[१]। यम लौटे, देखा, बड़े दुखी हुए, करुणा उमड़ी। "बच्चे, उत्तम अधिकारी अतिथि होकर तीन दिन रात तू मेरे द्वारे बिना खाए पीए बैठा रह गया। मेरे ऊपर बड़ा ऋण चढ़ गया। तीन वर माँग। जो माँगेगा वही दूँगा।" "मेरे यहां चले आने से, पिता बहुत दुःखी हो रहे हैं, उन का मन शांत हो जाय।" "अच्छा, वह तुम को फिर से देखेगा।" "स्वर्ग की बात बताइए, उस की बड़ी प्रशंसा सुन पड़ती है। वहां की व्यवस्था कहिए, वह कैसे मिलता है सो भी बताइए।" यम ने सब बतलाया। फिर तीसरा वर लड़के ने माँगा।

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये, अस्तीत्येके नायमस्तीति चान्ये।
एतद् विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं, वराणामेष वरस्तृतीयः॥ (कठ)

"मनुष्य मर जाता है, कोई कहते हैं कि शरीर नष्ट हो गया पर जीव है, कोई कहते हैं कि नहीं है, सो क्या सच है, इस का निर्णय बताइए।"

इस लोक को छोड़ कर परलोक को, यमलोक, पितृलोक, स्वर्गलोक को, जाग्रत् लोक से स्वप्नलोक को, जीव जाता है। पर वहां भी उस को कम बेश यहीं की सी सामग्री देख पड़ती है, और वहां भी मौत का भय बना ही रहता है। नचिकेता अपना स्थूल शरीर छोड़ कर यम लोक में आया है, तो भी उस को अपनी नित्यता, अमरता, का निश्चय भीतर नहीं है, क्योंकि साऽऽदि, साऽन्त, सूक्ष्म शरीर अथवा लिंग देह से उस का जीव यहां भी बँधा है, और यम ने भी उस को स्वर्ग का हाल सब बताया है, सुखों के साथ दुःख भी, मृत्यु का भय भी, स्वर्ग से च्युत होकर पुनः भूलोक में जाने का निश्चय भी, सब बताया है। इस से बालक पूछता है, "जीव अमर है—यह निश्चय कैसे होय?"

यम ने बहुत प्रलोभन दिखाया, "धन दौलत लो, सुंदर पत्नी लो, पुत्र पौत्र लो, ऐश्वर्य लो, बड़े से बड़ा राज लो, दीर्घ से दीर्घ आयु लो, दृढ़ और ख़ूब खा पी सकने और भोग विलास करने योग्य द्रढिष्ठ बलिष्ठ आशिष्ठ सुंदर श्रीमान् शक्तिमान् शरीर लो, यह प्रश्न मत पूछो। देवताओं को भी यहां शंका लगी ही है।"

---

[१] पुराण ग्रंथों से ऐसी सूचना मिलती है कि, जैसे सूक्ष्म लोक से इस स्थूल लोक में आने और जन्म लेने के पहिले एक संध्याऽऽवस्था, गर्भावस्था, होती है, वैसे ही प्रायः भूर्लोक से पुनः भुवर्लोक पितृलोक में वापस जाने के पहिले, बीच में, एक संध्याऽऽवस्था, बेहोशी की, नींद की सी, होती है। स्यात् तीन दिन तक यम से न मिलने और बात न होने का आशय यही है।

पर बालक अपने प्रश्न से नहीं डिगा।

अपि सर्वं जीवितमल्पमेव, तवैव वाहास्तव नृत्यगीते।
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो, वरस्तु मे वरणीयः स एव॥
यस्मिन्निदं विचिकित्संति देवा, यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो, नाऽन्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते॥

"यह सब वस्तु जिन से आप मुझ को लुभाते हो, वह सब तो आप ही की रहेगी, एक न एक दिन सब खाना-पीना, नाचना-गाना, हाथी-घोड़े, प्रासाद-उद्यान, ऐश-आराम आप वापस लोगे। देवताओं को भी इस विषय में शंका है, मृत्यु का भय है, इसी लिए तो मुझे इस शंका का निवारण और भी आवश्यक है। यह वर जो मेरे मन में गहिरा धँस गया है, मुझे तो इस के सिवा दूसरा कोई पदार्थ नहीं चाहिए। दूसरा कुछ इस समय अच्छा ही नहीं लगता। मुझे तो प्रश्न का उत्तर ही चाहिए, अमरता ही चाहिए, मृत्यु का भय छूटा तो सब भय छूटा, अमरता मिली तो सब कुछ मिला।"

तब यम ने उपदेश दिया, वेदांत विद्या का भी और तत्संबंधी योग विधि, प्रयोग विधि, का भी, "मेटाफ़िज़िकल सायंस" का भी और "साइको-फिज़िकल आर्ट" का भी, निरोध का भी और व्युत्थान का भी, मोक्षशास्त्र, शांति-शास्त्र, "सायंस आफ़ पीस", का भी, और शक्ति-शास्त्र, "सायंस आफ़ पावर", "ओकल्ट सायंस", का भी।

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतो ऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां, योगविधिं च कृत्स्नं।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद् विमृत्युः, अन्योऽप्येवं यो विद् अध्यात्ममेव॥ (कठ)

यमराज से वेदांत-विद्या, आत्म-विद्या, को, तथा समग्र योग-विधि को पाकर नचिकेता ने ब्रह्म का अनुभव किया, रजस् से, राग-द्वेष के मल से, चित्त उस का शुद्ध हुआ, मृत्यु के पार पहुँचा। जो कोई इसी रीति से दृढ़ निश्चय करेगा, यम का सेवन करेगा, कठिन यम-नियमों का पालन करेगा, यमराज मृत्यु का मुँह देख कर उस का सामना करेगा, डर कर भागेगा नहीं, मृत्यु से प्रश्नोत्तर करेगा, और उत्तर की खोज में दुनिया के सब लोभ लालच छोड़ने को तय्यार होगा, उस को भी नचिकेता के ऐसा आत्मा का, परमात्मा का, जीव और ब्रह्म की एकता का, "दर्शन", "सम्यग्दर्शन", होगा, और अमरता का लाभ होगा।[1]

[1] इस संबंध में आगे चलकर हर्ज़बर्ग नाम के यूरोपियन विद्वान् की पुस्तक, "दी साइकालोजी आफ़ फ़िलोसोफ़र्स" (सं० १९२९) की चर्चा की जायगी, जिस में उन्होंने यूरोप के तीस नामी फ़लसफ़ी अर्थात् दार्शनिकों की नैसर्गिक प्रकृतियों और जीवनियों की परीक्षा समीक्षा की है, और इस की गवेषणा की है कि किन हेतुओं से वे 'फ़िलोसोफ़ी' की दर्शन की ओर झुके।

याज्ञयवल्क्य और मैत्रेयी

जैसा यम ने सांसारिक विभव से नचिकेता को संतुष्ट करना चाहा, ऐसे ही, जब याज्ञवल्क्य ऋषि का मन इस लोक के जीवन से थका, तब उन्हों ने अपनी भार्या मैत्रेयी से विदा चाहा, और मैत्रेयी को धन दौलत देने लगे। मैत्रेयी ने पूछा, "क्या मैं इस धन दौलत से अमर हो जाऊँगी ?"। याज्ञयवल्क्य ने कहा, " नहीं, केवल यही होगा कि जैसे धनी लोग जीवन का निर्वाह करते हैं वैसे तुम भी कर सकोगी, और जैसे वे मरते हैं वैसे तुम भी मरोगी।" तब मैत्रेयी ने कहा, "तो फिर वह लेकर क्या करूँगी जिस से मृत्यु का भय न छूटे। वही वस्तु दीजिए जिस से अमर हो जाऊँ।"

येनाहं नाऽमृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्। (बृहदारण्यक)

तब याज्ञयवल्क्य ने परा-विद्या का ज्ञान दिया।

बुद्ध देव।

राजकुमार गौतम को, जो पीछे बुद्ध हुए, उन के पिता ने, भविष्य वाणी के भय से, ऐसी कोमलता से पाला कि उन को सूखा पत्ता भी कभी यौवन के आरंभ तक न देख पड़ा। उन के वास-स्थान, प्रासाद, उद्यान, के भीतर, जगत् का स्वरूप शोभामय, सौंदर्यमय, सुखमय, प्रलोभनमय बनाया। इसलिए कि संसार में उन का मन लिपटा ही रहे, कभी इस से ऊबै उचटै नहीं। पर इस कोमलता ने ही भविष्यवाणी को सिद्ध करने में सहायता दी। राजकुमार को, एक दिन, फुलवारी के बाहर का लोक देखने की इच्छा हुई। गए। पिता ने सब कुछ प्रबंध किया कि कोई दुःख-स्वप्न के ऐसा दुःखद दृश्य उन की आँख के सामने न आवे। सड़क छिड़काया, नगर सजाया, सुंदर रथ पर राजकुमार को नगर में फिराया। पर होनहार पूरी हुई। जगदात्मा सूत्रात्मा के रचे संसार नाटक के अभिनय में उपकरण-भूत कर्मचारी देवताओं ने ऐसा प्रबंध किया कि भावी बुद्ध सिद्धार्थ ने जरा से जर्जर बूढ़े को देखा, पीड़ा से कराहते रोगी को देखा, मृत मनुष्य के विकृत शरीर को स्मशान की ओर ले जाए जाते देखा। चित्त में महाचिंता की आग धधकी, महाकरुणा का स्रोत फूटा और बह निकला, आत्मा की सात्त्विकी बुद्धि जागी। केवल अपने शरीर के दुःख का भय नहीं, सब प्राणियों के अनंत दुःखों का महादुःख, घन होकर, संपिंडित हो कर, उन के चित्त में एकत्र हुआ, उन के शरीर में भीना, अंग-अंग में व्यापा। विवेक, विचार, वैराग्य, सर्वप्राणि-मुमुक्षा, स्वयमेव मोक्तुमिच्छा नहीं, किंतु सर्वान् मोचयितुमिच्छा, का परम सात्विक उन्माद हृदय में

छा गया।[१] उस दिव्य बुद्धि-मय पागलपन में, उनतीस वर्ष की उमर में, आधी रात को, सब सुख समृद्धि के सार भूत अतिप्रिय पत्नी यशोधरा और बालक राहुल को भी छोड़ कर, भवन के बाहर, नगर के बाहर, चले गए। नगर के फाटक से बाहर होकर, घूम कर, बाँह उठा कर, शपथ किया,

जननमरणयोरदृष्टपारः न पुनरहं कपिलाह्वयं प्रवेष्टा।

"जीना क्या है, मरना क्या है, इन के दुःखों से पत्नी पुत्र बंधु बाँधव समस्त प्राणी कैसे बचें, इस के रहस्य का जब तक पता नहीं पाऊँगा, तब तक राजधानी कपिलवस्तु के भीतर फिर पैर नहीं रक्खूंगा।"

छः वर्ष की घोर तपस्या से, बहुविध मुनिचर्याओं की परीक्षा करके, अनंत विचारों की छान-बीन करके, एकाग्रता से, समाधि से, उस रहस्य को, परम शांतिमय निर्वाण को, भेदबुद्धिमय अहंकारमय इच्छा तृष्णा वासना एषणा के निर्वाण को, पाया, निश्चय से जाना कि सुख-दुःख, जीवन-मरण, सब अनंत द्वंद्वमय संसार, अपने भीतर, आत्मा के भीतर, है, आत्मा आप अपना मालिक है, अपने आप जो चाहता है सो अपने को सुख-दुःख देता है, कोई दूसरा इस को सुख-दुःख देनेवाला, इस पर क़ाबू रखने वाला, इस का मालिक, नहीं है। तब पैंतालीस वर्ष तक, सब संसार को, इस ज्ञान के सार, वेद के अंत, परा विद्या, परम तत्व, "सर्व-गुह्यतम" तथ्य, "गुह्याद् गुह्यतर" रहस्य, का उपदेश करते हुए, गंगा के किनारे-किनारे फिरे। दुःख क्या है, दुःख का हेतु क्या है, दुःख की हानि क्या है, दुःखहानि का उपाय क्या है—यह चार "आर्य-सत्य" बताते रहे, जिसी चतुर्व्यूह को दुःख—आयतन—समुदय—मार्ग के नाम से भी कहते हैं। करुणा से व्याकुल, सब के आँसू पोंछते, यह पुकारते फिरे, "सब लोक सुनो, दुःखी मत हो, दुःख तुम्हारे काबू में है, तुम अपनी भूल से, अपनी इच्छा से, अपने किए से, दुखी हो, किसी दूसरे के नहीं, यह सब तुम्हारा ही बनाया खेल है, इस को पहिचानो, अपने को पहिचानो, सत्य को जानो, दुःख छाड़ो, स्वस्थ आत्मस्थ हो।"

---

[१] भक्ति के शब्दों में, यह भाव, प्रह्लाद की नारायण के प्रति उक्ति में, भागवत में दिखाया है—

प्रायेण, देव, मुनयः स्वविमुक्तिकामाः स्वार्थं चरंति विजने, न परार्थनिष्ठाः।
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको, नाऽन्यं त्वद् अस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये॥

"हे देव!, प्रायः मुनिजन अपनी ही मुक्ति की इच्छा से, जनरहित एकांत में, स्वार्थ साधते हैं, परार्थ नहीं,। इन सब संसार में भ्रमते, कृपण, कृपा के करुणा के, योग्य, दीन जनों को छोड़ कर अकेले मुक्त होना, मैं नहीं चाहता, और आप को छोड़ इन का कोई दूसरा शरण नहीं देखता इन सब की मुक्ति का उपाय बताइए॥"

महावीर-जिन

महावीर-जिन की जीवनी का पता जहां तक चलता है, बहुत कुछ बुद्ध के चरित से मिलती है। तीस वर्ष की उमर में उन्हों ने स्त्री, पुत्र, युवराज का पद, राज्य लक्ष्मी, छोड़ा। बारह वर्ष तपस्या करने पर कैवल्य-ज्ञान की, अद्वैत की, तौहीद की, ज्योति का उदय उन के हृदय में हुआ। शुद्धि, शांति, शक्ति की पराकाष्ठा को पहुँचे। तीस वर्ष उपदेश द्वारा संसारी जीवों के उद्धरण में प्रवृत्त रहे। बुद्धदेव के समकालीन थे। दोनों ही को आज से कोई ढाई हज़ार वर्ष हुए। जैन पद्धति का भी मूल सब दुःखों से मोक्ष पाने की इच्छा है।

इस संप्रदाय का एक बहुत प्रामाणिक ग्रंथ 'तत्वार्थाधिगम सूत्र' है। इस को उमास्वामी, जिन को उमास्वाती भी कहते हैं, प्रायः सत्रह सौ वर्ष हुए, लिखा। इस का पहिला सूत्र है, "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"। मोक्ष का, सब दुःखों से, सब बंधनों से, छुटकारा पाने का, उपाय, सम्यग दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र है।

जैन मत का एक प्रसिद्ध श्लोक है—

> आस्रवो बंधहेतुः स्यात्, संवरो मोक्षकारणम्।
> इतीयमार्हती मुष्टिः, अन्यदस्याः प्रपंचनम्॥

"बंध का हेतु आस्रव, तृष्णा, उस के संवर से, निरोध से, मोक्ष—इस मूठी में सारा अर्हत तंत्र, जैन दर्शन, रक्खा है। अन्य सब भारी ग्रंथ विस्तार इसी का प्रपंचन, फैलावा, है।" वेदांत दर्शन के बंध—अविद्या—विद्या—मोक्ष, और बौद्ध दर्शन के दुःख—तृष्णा—त्याग—निर्वाण, योग दर्शन के व्युत्थान-निरोध आदि, नितरां सुतरां यही पदार्थ हैं। उक्त जैन श्लोक में जो बात इच्छा संबंधी शब्दों में कही है उसी का दूसरा पक्ष, दूसरा पहलू, ज्ञान संबंधी शब्दों में उसी प्रकार के संग्राहक और प्रसिद्ध वेदांत के श्लोक में कहा है।

> श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि, यदुक्तं शास्त्रकोटिभिः।
> ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः॥

ईसा मसीह

ईसा मसीह ने भी ऐसी ही बातें कही हैं—

"कम अंटू मी आल यी दैट आर वियरी ऐण्ड हेवी लेडन, ऐण्ड आइ विल गिव यू रेस्ट। इफ़ एनी मैन विल कम आफ़्टर मी, लेट हिम डिनाई हिमसेल्फ़, ऐण्ड फ़ालो मी। फ़ार हूसोएवर विल सेव हिज़ लाइफ़ शैल लूज़ इट, ऐण्ड

हूसोएवर विल लूज़ हिज़ लाइफ़ फ़ार माई सेक शैल फ़ाइण्ड इट्। फ़ार ह्वाट इज़ ए मैन प्रोफ़िटेड इफ़ ही शैल गेन दी होल वर्ल्ड, ऐण्ड लूज़ हिज़ सोल ? यी कैन नाट सर्व गाड ऐण्ड मैमन बोथ। बट सीक फ़र्स्ट दि किङ्डम आफ़ गाड ऐण्ड हिज़ रैचसनेस, ऐण्ड आल दीज़ थिङ्ज़ विल बी ऐडेड अंटू यू।" (बाइबिल)

Come unto me all ye that are weary and heavy-laden, and I will give you rest. If any man will come after me, let him deny himself, and follow me. For whosoever will save his life shall lose it, and whosoever will lose his life for my sake shall find it. For what is a man profited if he shall gain the whole world and lose his soul? Ye cannot serve God and Mammon both. But seek first the Kingdom of God and his Righteousness, and all these things shall be added unto you. (St. Mathew).

अर्थात्, जो दुनिया के बोझ से अत्यंत थके हैं, ऊब गए हैं, वे मेरे पास, आत्मा के पास, आवैं। उन को अवश्य विश्राम मिलेगा। जो दुनिया से थका नहीं है वह ख़ुदा के पीछे पड़ता ही नहीं है, ख़ुदा को पावेगा कैसे ? सब सुख चैन से, ऐश आराम से, मन हटा कर, सारे दिल से, मेरे पीछे, आत्मा के पीछे, लगे, तो निश्चयेन पावे। जो इस थोड़ी छोटी ज़िंदगी की अनित्य, नश्वर, वस्तुओं में मन अटकाए हुए है, वह उस नित्य अजर अमर वस्तु को खो रहा है, भुला रहा है जो इस को छोड़ने को तयार होगा वह उस को ज़रूर पावेगा। और उस वस्तु को पाने का यत्न करना चाहिए। आदमी सब कुछ पावे, पर "अपने" ही को, अपनी रूह को, आत्मा ही को, खो दे, भुला दे, तो उस ने क्या पाया, उस को क्या लाभ हुआ ? दुनिया की और ख़ुदा की, दोनों की, पूजा साथ-साथ नहीं हो सकती। ख़ुदा को, आत्मा को, और आत्मधर्म को, सत्य को, ऋत को, पहिचान लो, पा लो, फिर यह सब दुनियावी चीज़ें भी आप से आप मिल जायँगी। परम सत्य को, तत्व को, हक़ को ढूँढ निकालो और गले लगाओ, अन्य सब पदार्थ स्वयं उस के पीछे आ जायँगे[1]।

---

[1] बंधु और मोक्ष के भाव और शब्द कैसे स्वाभाविक और व्यापक हैं, इस का उदाहरण देखिए, कि ईसा के धर्म के संबंध में भी ये पाए जाते हैं। पाउल गर्हार्ट नाम के भक्त का भजन है,

"आइ ले इन क्रूएल बांडेज, दाउ केमस्ट एण्ड मेड मी फ़्री।"

"आत्म लाभ से सर्व लाभ" यही बातें उपनिषदों में, गीता में, कही हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (गीता)

आत्मनस्तु कामाय सर्वं वै प्रियं भवति ।
एकेन विज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति ।
एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म, एतद्ध्येवाक्षरं परं ।
एतदेव विदित्वा तु यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ (कठ)

यं यं लोकं मनसा संविभाति, विशुद्धसत्वः कामयते यांश्च कामान् ।
तं तं लोकं जयते, तांश्च कामान्, तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥

(मुंडक)

आत्मैवेदं सर्वमिति·····एवं पश्यन्······आत्मानंदः स स्वराट् भवति, तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति । (छांदोग्य)

अर्थात्, अन्य धर्मों को, आत्मा से अन्य पदार्थों के धर्मों को, सब को छोड़ कर, मेरी शरण लो । 'मैं', आत्मा, तुम को सब दुःखों से, सब पापों से, छुड़ावेगा । सब कुछ, माल-मता, इज्जत-हुकूमत-दौलत-मनबहलाव, दोस्त आश्ना, बाल बच्चे, देव और इष्ट, जो कुछ भी प्यारे हैं, आत्मा ही के वास्ते, अपने ही वास्ते, प्यारे होते हैं । आत्मा ही खो जाय तो सब कुछ खो गया । उस एक के जानने से सब कुछ जाना जाता है । उस को जान कर, अक्षर, अविनाशी, सब से बड़ी, सब से परे वस्तु को जान कर, पा कर, फिर जिस किसी वस्तु को चाहेगा, वह अवश्य मिलेगी । यह आत्मा ही प्रणव से, ओंकार से, सूचित ब्रह्म है, सब कुछ इस आत्मा के भीतर है, तो यह जानकर जो कुछ चाहेगा वह आत्मा से ही पावेगा । जिस-जिस लोक में जाना चाहेगा उस-उस लोक में बिना रुकावट जा सकेगा, आत्मज्ञानी, आत्मानंद, ही तो

I lay in cruel bondage, thou cam'st and made me free.—अर्थात्, मैं बंधन में पड़ा था, तूने आकर मुझे मुक्त किया, स्वतंत्र किया ।

अँग्रेज़ी शब्द "बांड" प्रायः संस्कृत शब्द "बंध" का ही रूपांतर है ।

Emancipation of the mind, fetter of the soul, freedom of thought, deliverance from sins, bondage of the spirit, bonds of sin, spiritual bondage, spiritual freedom, salvation, political bondage, political freedom, ये सब शब्द उन्हीं मूल भावों के द्योतक हैं ।

सच्चा स्वराट् है, स्व-राज्य वाला है, उस की गति किसी लोक में नहीं रुकती[१]।

सूफ़ी

बिजिन्स यही बातें सूफ़ियों ने कही हैं।

न गुम शुद कि रूयश ज़ि दुनिया बिताफ़्त।
कि गुम गश्तए ख़ेश रा बाज़ याफ़्त॥
हम् ख़ुदा ख़ाही व हम् दुनियाइ दूं।
ईं ख़यालस्तो मुहालस्तो जुनूं॥
हर कि ऊ रा याफ़्त दुनिया याफ़्तः।
ज़ाँ कि हर ज़रः ज़ि मिहश ताफ़्तः॥

अर्थात्, जिस ने दुनिया से मुँह फेरा वह गुम नहीं हुआ, बल्कि गुमगश्ता, खोए हुए, भूले हुए, आपे को, अपने को, आत्मा को, उस ने वापस पाया। दुनिया को भी और ख़ुदा को भी चाहो, और दोनो को साथ ही पावो, यह मुश्किल है, वहम है, पागलपन का ख़याल है। अगर ख़ुदा को, परमात्मा को, अपनी अजर अमर आत्मा को, पहिचानना और पाना है, अगर सब ख़ौफ़ और तकलीफ़, सब क्लेश और बंध, सब हिर्स और हवस की असीरी, से हमेशा के लिए नजात, मोक्ष, आज़ादी, स्वतंत्रता चाहते हो, सब "सिन" से "साल्वेशन" पाने की ख़्वाहिश है, तो एक बार तो दुनिया से तमामतर मुँह मोड़ना ही होगा। एक बार तो सारा दिल ख़ुदा की खोज में लगा देना ही होगा। जब उस को पा लोगे तब उस की बनाई हुई सब चीज़ों को आप से आप पाओगे। सारी दुनिया, एक-एक ज़र्रा, एक-एक अणु, परमाणु, परमात्मा की अचरज माया शक्ति से, मिह्र से, जिस की अस्लियत वही है जो तुम्हारे ख़याल की क़ूवत की है, बना है।

जो इल्मो हिकमत का वो है दाना, तो इल्मो हिकमत के हम हैं मूजिद।
है अपने सीने में उस से ज़ायद, जो बात वायज़ किताब में है॥

अर्थात्, जीवात्मा जब परमात्मा को पा ले, यह पहिचान ले कि दोनों एक ही हैं, तो परमात्मा में जो अनंत सर्वज्ञता भरी है वह इस जीवात्मा में

---

[१] "He has the freedom of all the worlds, can enter into any world at will". इंग्लिस्तान में "freedom of a town" किसी को उस नगर की ओर से देना बड़े आदर का चिन्ह समझा जाता है। अब तो यह एक निरी रस्म मात्र रह गई है। पर प्रायः पूर्व काल में इस का अर्थ यह होगा कि उस आदृत सज्जन के लिए "सब घरों के दर्वाज़े खुले हैं।"

नई-नई ईजादों की, आविष्कारों को, शकल से ज़ाहिर होने लगती है। उस की रचना शक्ति, माया शक्ति, संकल्प शक्ति, इस में भी कल्पना शक्ति की सूरत में नुमायाँ होती है। जीवात्मा और परमात्मा की, रूह और रूहुलरूह की, ऐनि-मुअय्यन और ऐनि-मुरक्कब की, एकता को पहिचाने बिना भी जो कुछ ईजाद इन्सान करते हैं, जो कुछ नया इल्म ढूंढ़ निकालते हैं, वह सब उसी अथाह इल्म के ख़ज़ाने से, ब्रह्मा से, महत्तत्व से अक़्लि-कुल रूहि-कुल से, ही उन को मिल जाता है। पहिचान कर ढूंढने से ज़्यादा आसानी से मिलता है। एक की हालत अंधेरे में टटोल कर पाने की है, दूसरे की चिराग़ लेकर खोजने और पाने की है।

तौरेत, इञ्जील, .क़ुरान

.क़ुरान में भी ऐसी बातें मिलती हैं। मुहम्मद ने भी पच्चीस बरस की उमर से चालीस की उमर तक, यानी पंद्रह बरस, तपस्या की, पहाड़ों में जाकर, सुबह से शाम तक, शाम से सुबह तक, ध्यान में, मुराक़िबा में, ग़र्क़ होकर, ख़ुदा को, अल्ला को, आत्मा को, ढूँढा और पाया। तब दुनियां को सिखाया।

इन्नल् ख़ासिरीन् अल्लज़्ज़ीना ख़सेरु अन्फ़ुसहुम् (क़ुरान)।

बड़ा नुक़सान उन्होंने उठाया जिन्होंने अपनी नफ़्स को, अपने आपे को, आत्मा को खोया।

नसुल्लाहा फ़अन्साहुम् अन्फ़ुसहुम् (.क़ुरान)।

जो अल्लाह को, परमेश्वर को, भूले, वे अपनी नफ़स को, अपने को भूले।

एज़ा अहब्बल्लाहो अब्दन् अग़लम्महू बिल्-बलाए (हदीस)।

अल्ला, परमात्मा, अंतरात्मा, जब किसी अब्द से, बन्दे से, मुहब्बत करता है, तब बलाओं से उस का गला पकड़ता है, उस के ऊपर मुसीबतें डालता है, ताकि वह दुनियावी हिर्सों से मुड़े और 'मेरी', अल्ला की, परमात्मा की, तरफ़ आवे।

इञ्जील का यही मज़मून है,

हूम दि लार्ड लवेथ ही चेस्टनेथ[१] (बाइबल)।

जिस का ठीक शब्दांतर भागवत का श्लोक है,

यस्यानुग्रहमिच्छामि तस्य सर्वं हराम्यहम्।

अर्थात्, जिस का भला चाहता हूँ उस का सरबस हर लेता हूँ, छीन

---

[१] Whom the Lord loveth He chasteneth.

लेता हूँ। क्योंकि दुःखी होकर, बाहर की ओर से भीतर की ओर लौटता है, दुनिया की तरफ़ से ख़ुदा की, आत्मा की, तरफ़ फिरता है, और तब उस को ज़रूर ही पाता है। यहां तक कि कुंती ने, कृष्ण के रूप में अंतरात्मा से, यह प्रार्थना की है कि,

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत् स्याद् अपुनर्भवदर्शनम्॥ (भागवत)

अर्थात्, हम लोगों पर सदा आपत्, आफ़त्, विपत् पड़ती रहे सो ही अच्छा, जो आप का दर्शन तो हो, जिस से फिर संसार के बंधनों का दर्शन न हो।

यही मज़मून मुहम्मद ने भी कहा है,

लौ यालमुल्-मोमिन् नियालहू मिनल्-अज्रे फ़िल मसायब लतमन्ना अन्नहू क़ुरेज़ा बिल मक़ारीज़ (क़ुरान)।

अर्थात्, अगर ईमानदार मोमिन श्रद्धालु यह इल्म ज्ञान रखता कि मुसीबतों में उस के लिए कितनी उन्नत, कितना फ़ायदा, कितना लाभ, रक्खा है, तो तमन्ना प्रार्थना करता कि मैं कैंचियों से टुकड़े-टुकड़े कतरा जाऊँ।

साधारण संसार के व्यवहार में भी, आपत्ति विपत्ति ऊपर पड़ने पर ही, दुर्बल प्राणी सबल शक्तिशाली प्रभाववान् के पास जाता है, और उस से सहायता की प्रार्थना करता है।

क्षुधातृषार्ता जननीं स्मरंति।

बच्चे खेल कूद में मस्त बेफ़िक्र रहते हैं, जब भूख प्यास लगती है तब माँ को याद करते हैं। आध्यात्मिक व्यवहार में भी, ऐसे ही, परम आपत्ति आने पर ही, संसार से मुड़ कर, संसार के मालिक की, परमात्मा अंतरात्मा की, खोज जीव करता है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह कि पूर्व देश में जिस पदार्थ को दर्शन, और जिस के संबंधी शास्त्र को दर्शन शास्त्र, कहते हैं, उस का आरंभ दुःख से, और उस दुःख से आत्यंतिक ऐकांतिक छुटकारा पाने की इच्छा से, अथवा आत्यंतिक ऐकांतिक असंभिन्न अपरिच्छिन्न अनवच्छिन्न अपरिमित, "फ़ैनल, कम्प्लीट, पर्फ़ेक्ट, ऐब्सौल्यूट, अन-ऐलोयड, अन-लिमिटेड"[1] सुख पाने की इच्छा से,

[1] Final (आत्यंतिक, जो फिर न बदलै), complete, perfect, absolute (ऐकांतिक, अखंडित, निश्चित) unalloyed, unmixed (असंभिन्न), unlimited (अपरिच्छिन्न, अनवच्छिन्न, अपरिमित)।

जो भी वही बात है, हुआ। आत्यंतिक ऐकांतिक सुख की लिप्सा, और दुःख की जिहासा, यही दर्शन की ओर प्रवृत्ति का मूल कारण है। विशेष-विशेष सुख की लिप्सा और विशेष-विशेष दुःख की जिहासा से विशेष-विशेष शास्त्र और शिल्प उत्पन्न होते हैं। सुखसामान्य की प्राप्ति और दुःखसामान्य के निवारण के उपाय की खोज से शास्त्रसामान्य, सब शास्त्रों का संग्राहक अर्थात् दर्शन-शास्त्र (जो सब शास्त्रों के सार का, हृदय का, तत्त्वों का, तथा संसार के मूल परमात्मा का, दर्शन करा देता है, क्योंकि उस में योग शास्त्र भी अंतर्गत है) उत्पन्न होता है।

दर्शन शब्द

इस शास्त्र का नाम दर्शनशास्त्र कई हेतुओं से पड़ा। सृष्टि-क्रम के इस विशेष देश-काल-अवस्था अर्थात् युग में, ज्ञानेंद्रियों में दो, आँख और कान, तथा कर्मेंद्रियों में हाथ, अधिक काम करने वाली इंद्रियां हैं। प्रायः इन के व्यापारों के द्योतक शब्दों से बौद्ध प्रत्यय ('मेन्टल आइडीयाज्' 'कानसेप्ट्स्') आदि पदार्थों का भी नामकरण सभी मानव भाषाओं में हो रहा है। नेदिष्ठ निस्संदेह ज्ञान, विस्पष्ट प्रत्यक्ष अपरोक्ष अनुभव, को दर्शन कहते हैं। "देखा आपने ?" "डू यू सी ?"[1] का अर्थ यही है कि, "आप ने ख़ूब साफ़ तौर से समझ लिया न ?"[2]

संसार के मर्म का, जीवन-मरण के रहस्य का, सुख दुःख के हृदय का, अपने स्वरूप का, पुरुष और पुरुष की प्रकृति का, जिस से दर्शन हो जाय वह दर्शन। दर्शन का अर्थ आँख भी। जिस से नयी आँख हो जाय, और, "नयी आँख को दुनिया नयी" के न्याय से, सारी दुनिया का रूप नया हो जाय, नया देख पड़ने लगे, वह दर्शन। "मेधाऽसि देवि विदिताखिलशास्त्र-सारा", सब शास्त्रों के सार को, तत्त्व को, पहिचानने की शक्ति हो जाय, सब में एक ही अर्थ, एक ही परमात्मा की विविध विचित्र अनंत कला, देख पड़ने

---

[1] Do you see ?

[2] दर्शन का अर्थ मत, राय, view, opinion, भी है। यथा "प्रस्थानभेदाद् दर्शनभेदः"; स्थान बदला, दृष्टि बदली; अवस्था बदली, बुद्धि बदली; जगह दूसरी, निगाह दूसरी; हालत बदली, राय बदली; 'दि व्यु चेंजेज़ विथ दि स्टैंड-पोइन्ट", "ओपिनियन्स चेंज विथ दि ऍंगल आफ़ विझन आर दि सिच्युएशन,"

"The view changes with the standpoint", "Opinions change with the angle of vision, or the situation."

लगे, समदर्शिता[१] हो जाय, सब असंख्य मतों, धर्मों, रुचियों का विरोध-परिहार और सच्चा परस्पर समन्वय हो जाय सब बातों के भीतर एक ही बात देख पड़े, वह सच्चा दर्शन।

जिस से सब अनंत दृश्य एक ही द्रष्टा के भीतर ही देख पड़े, जिस से सब देश सब काल सब अवस्था में अपना ही, आत्मा का ही 'स्व' का ही, 'मैं' का ही, प्राधान्य, राज्य, वश, देख पड़े, जिस से दुःख के मूल का उच्छेद हो जाय, सुख का रूप बदल कर अक्षोभ्य शांति में परिणत हो जाय, वह सच्चा दर्शन।[२]

न्याय

प्रसिद्ध छः दर्शनों के सूत्रों में प्रायः यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि उन का प्रेरक हेतु, प्रयोजन, मक़सद, यही सुख-लिप्सा दुःख-जिहासा, अथवा, रूपांतर में, बंध से मुमुक्षा, है।

गौतम के बनाए न्याय सूत्र के पहिले दो सूत्र ये हैं—

प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टांत-सिद्धांत-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितंडा-हेत्वाभास-छल-जाति निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानात् निःश्रेयसाधिगमः। दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानां उत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायाद् अपवर्गः।

सच्चे ज्ञान के उत्पन्न करने, ले आने, संग्रह करने के उपकरण, तथा ज्ञान की सत्यता की परीक्षा और निश्चय करने के उपाय, को प्रमाण कहते हैं। यानी सबूत, ज़रियइ-सुबूत, "प्रूफ़" इत्यादि। जो पदार्थ प्रमाणों के द्वारा सिद्ध निश्चित किए जाते हैं उन को प्रमेय कहते हैं। इन दो से संबंध रखने वाले इन के आनुषंगिक, शेष चौदह पदार्थ हैं। प्रमाण और प्रमेय आदि (जिन प्रमेयों में आत्मा मुख्य प्रमेय है) सोलह पदार्थों का तात्विक सच्चा ज्ञान होने से, दुःख और उस के कारणों की परंपरा का उत्तरोत्तर, एक के बाद एक का, अपाय, अपगमन, निराकरण, क्षय होकर, अर्थात् तत्त्वज्ञान मिलने से मिथ्याज्ञान का क्षय, उस से राग-द्वेषादि दोषों का क्षय, उस से कर्मों में प्रवृत्ति का क्षय, उस से सर्व दुःख का क्षय होकर, अपवर्ग, (जो मोक्ष और निःश्रेयस का नामांतर है) मिलता है। एक ही पदार्थ को, दुःखों के समूल अपवृश्चन से अपवर्ग कहते हैं; नितरां श्रेयस, जिस से बढ़कर श्रेयान् पदार्थ नहीं है, ऐसा होने से निःश्रेयस कहते हैं; मृत्यु के भय रूपी और अमरता में संशय रूपी मूल बंधनों से, तथा दुःखोत्पादक कर्मों और वास-

---

[१] Law of analogy.

[२] View.

नाओं के मूल बंधनों से, छूट जाने से उसी को मोक्ष कहते हैं; चित्त की सब चंचलताओं के शांत हो जाने से, तृष्णा को जलती आग के बुझ जाने से उसी को निर्वाण कहते हैं। दूसरी भाषाओं में उन उन भाषाओं के बोलनेवाले विद्वान्, सूफ़ी, मिस्टिक, ग्नास्टिक, (Mystic, Gnostic) फ़िलासोफ़र सज्जनों ने उसी "अहमेव सर्वः", "मुझमें सब, सब में मैं" के परमानंद ब्रह्मानंद को नजात, लज्ज़तुल्-इलाहिया, या फ़नाफ़िल्ला, यूनियन विथ गाड, फ्रीडम आफ़ दी स्पिरिट, डिवाइन ब्लिस, विज़न आफ़ गाड, डेलिवरंस फ्राम सिन, साल्वेशन, बीएटिट्यूड, बैप्टिज़्म विथ दी होली गोस्ट, बिकमिङ् क्रैस्टास बिकमिंग ए सन आफ़ गाड[1] इत्यादि शब्दों से कहा है।

वैशेषिक

कणाद के रचे वैशेषिक सूत्रों के पहिले, दूसरे, और चौथे सूत्र ये हैं—

अथातो धर्मजिज्ञासा। यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायानां पदार्थानां साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञाना निःश्रेयसम्।

अर्थात्, धर्म वह पदार्थ है जिस से सांसारिक अभ्युदय और पारमार्थिक निःश्रेयस, भोग और मोक्ष, (दुनिया और आक़बत, खिलक़त और ख़ालिक, दोनों मिलते हैं। इस धर्म में से एक विशेष भाग के आचरण से द्रव्य आदि पदार्थों के (जिन में मुख्य द्रव्य आत्मा है) लक्षणात्मक धर्मों का, और उन के साधर्म्य-वैधर्म्य, सादृश्य-वैदृश्य का, तात्त्विक ज्ञान होता है, और तत्वज्ञान से निःश्रेयस होता है। इस लिए साधनभूत मानव-धर्म की आपाततः, और उस के साध्यभूत पदार्थों के धर्मों के तत्वज्ञान की मुख्यतः, जिज्ञासा की जाती है।

सांख्य

कपिल के नाम से प्रसिद्ध जो सांख्य सूत्र मिलते हैं उन का पहिला सूत्र यह है—

अथ त्रिविधदुःखात्यंतनिवृत्तिः अत्यंतपुरुषार्थः।

---

[1] Union with God; freedom of the spirit; divine bliss; vision of God; deliverance from sin; salvation; beatitude; baptism with the Holy Ghost; becoming Christos; becoming a son of God.

ईश्वर-कृष्ण की रची सांख्य-कारिका का पहिला श्लोक भी यही अर्थ कहता है—

दुःखत्रयाभिघाताज् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्, न, एकांताऽत्यंततोऽभावात् ॥

अनेक प्रकार के दुःख मनुष्यों को सताते हैं। उन की यदि राशियाँ की जायँ, तो तीन मुख्य राशियाँ होंगी, आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक। वाचस्पति मिश्र ने, सांख्य-तत्व-कौमुदी नाम की सांख्यकारिका की टीका में, इन तीनों का अर्थ एक उत्तम रीति से किया है। यथा, आध्यात्मिक दुःख दो प्रकार के, शारीर और मानस। पाँच प्रकार के वात अर्थात् प्राण वायु, पाँच प्रकार के पित्त, पाँच प्रकार के श्लेष्मा[१]—इन के वैषम्य से, उचित मात्रा में न होकर कमी बेशी से, जो रोग पैदा हों वे शारीर। काम क्रोध लोभ मोह मद मत्सर आदि से जो दुःख पैदा हों वे मानस। यह सब आंतरिक उपाय से साध्य हैं, चिकित्सनीय हैं, इसलिये आध्यात्मिक, क्योंकि आत्मा देह्य भी, जैव भी। बाह्य उपायों से साध्य दुःख दो प्रकार के, आधिभौतिक और आधिदैविक। दूसरे जंगम प्राणियों से तथा प्राकृतिक स्थावर पदार्थों से, जो दुःख अपने को मिलें वह सब आधि-भौतिक, और यक्ष, राक्षस, विनायक, ग्रह आदि के आवेश[२] से जो हों वह आधिदैविक।

यह वाचस्पति मिश्र का प्रकार है। यदि इस से संतोष न हो तो दूसरे प्रकारों से भी अर्थ किया जा सकता है, और उक्त प्रकार के साथ उन का कथंचित् समन्वय भी हो सकता है। कृष्ण ने गीता के आठवें अध्याय में भी इन शब्दों का अर्थ बताया है। उस के अनुसार, नये शब्दों में, यों कह सकते हैं कि तीन पदार्थ अनुभव से सिद्ध है, एक 'मैं' जानने वाला, दूसरा 'यह' जो कुछ

[१] Diseases due to the derangements of the nervous system and "the five kinds of nervous forces"; of the assimilative system and "the five kinds of digestive and bodily-heat-producing secretions"; and of the tissue-building apparatus and "the five kinds of mucous substances".

कविराज श्री कुंजलाल भिषग्रत्न ने सुश्रुत का जो अंग्रेज़ी अनुवाद किया है, उस में बड़ी विद्वत्ता और बुद्धिमत्ता से इन तीनों का अर्थ वैज्ञानिक और युक्तियुक्त करने का यत्न किया है।

[२] Obsession by evil spirits.

जाना जाता है, तीसरा इन दोनों का 'संबंध'। विषयी, विषय, और उन का संबंध। चेतन, जड़, और उन का संबंध। स्पिरिट, मैटर, फ़ोर्स,[1]। सबजेक्ट आबजेक्ट, रिलेशन[2]। गाड, नेचर, मैन[3]। जीवात्मा (अर्थात् तत्स्थानी चित्त, मन, अन्तःकरण), देह, और दोनों को बाँध रखने वाला प्राण। भिन्न-भिन्न प्रस्थानों से देखने से ऐसे भिन्न-भिन्न त्रिक देख पड़ते हैं। इन में सूक्ष्म भेद भी है, तो स्थूल रूप से समानता भी है। मूल त्रिक पहिले कहा, विषयी-मैं-चेतन, विषय-यह-जड़, और दोनों का संबंध। इसी मूल त्रिक की छाया अन्य सब पर पड़ती है। तो अब मानव सुख दुःख के प्रसङ्ग में, मुख्य तो दो ही प्रकार देख पड़ते हैं। एक तो जो अधिकांश भीतरी हैं, अपने आत्मा जीवात्मा मन के हैं, अपनी प्रकृति के किए हैं, अन्तःकरण से विशेष संबंध रखते हैं, काम, क्रोध, भय, लोभ, चिंता, ईर्ष्या, पश्चात्ताप, शोक आदि के दुःख—आदि और उनके विकार, इन को आध्यात्मिक कह सकते हैं।

दूसरे जो बाहर से आते हैं, अधिकांश बाहरी हैं, जिन को दूसरे प्राणी, अथवा जड़ पदार्थ, पत्थर, लकड़ी, काँटा, विष, जल, आग, बिजली आदि पाञ्चभौतिक पदार्थ, हमारे पाञ्चभौतिक शरीर को पहुँचाते हैं— इन को आधिभौतिक कह सकते हैं। तीसरे हमारे जीव और हमारी देह को एक दूसरे से बांधने वाले जो प्राण हैं, उन के विकार से जो उत्पन्न होते हैं, उन को आधिदैविक कह सकते हैं। दीव्यति, क्रीड़ति, विजिगीषति, व्यवहरति, द्योतते, मोदते, माद्यति, स्वपिति, कामयते, गच्छति—दिव् धातु के ये सब बहुत से अर्थ हैं।। क्रीड़ा, खेल, का भाव सब में अनुस्यूत है, सब का संग्राहक है। आत्मा और अनात्मा का, पुरुष और प्रकृति का, परस्पर खेल, जीवत् प्राणवान् शरीर के द्वारा—यही संसार का रूप है। प्राण ही मुख्य देव है[4]। तो प्राणों के विकार से जो रोग और दुःख हों, वे आधिदैविक। अब पश्चिम के वैज्ञानिक भी धीरे-धीरे मानने लगे हैं, कि मनुष्य, पशु, वृक्ष, और धातु[5] की सृष्टियों के सिवा अन्य 'योनियों' का भी संभव है। जो हम को चर्म-चक्षु से नहीं देख

---

[1] Spirit, matter, force.

[2] Subject, object, relation, between the two.

[3] God, Nature, Man.

[4] प्राणों के, इंद्रियों के, महाभूतों के, 'अभिमानी देव' भी उपनिषदों में कहे हैं। एक अर्थ में यह भी कहना ठीक हो सकता है, कि मानव जीव सभी प्राणों इन्द्रियों महाभूतों का अभिमानी देव है, क्योंकि इस के पिंड में समस्त ब्रह्मांड के पदार्थ, बिंब-प्रतिबिंबन्याय से उपस्थित हैं।

[5] Human, animal, vegetable, mineral, kingdoms.

पड़तीं । स्थूल शरीर के स्थूल नेत्रों से जितना हम को देख पड़ता है, उस के सिवा जगत् में और कुछ है ही नहीं, ऐसा कहना थोथा अहंकार है[१] ।

देव, उपदेव, यक्ष, राक्षस, गंधर्व, अप्सरा, भूत, प्रेत, पिशाच[२] आदि जीव भी नितरां असंभाव्य नहीं हैं । "साइकिकल रिसर्च" में जो वैज्ञानिक प्रवृत्त हैं, वे इन के विषय में ज्ञान का संग्रह, उचित परीक्षा के साथ, कर रहे हैं; न अंध विश्वास करते हैं न अंध अविश्वास ही । तो यदि ऐसे जीव हों, और उन से हमारे प्राणों को, और उस के द्वारा हमारे चित्त को, उन्माद, अपस्मार, आदि रूप से, बाधा पहुँचे, तो उस दुःख को भी आधिदैविक कह सकेंगे । साइको-ऐनालिसिस, साइकिआट्री, साइकोथिरापी, साइकिकल रिसर्च[३] आदि के विविध वैज्ञानिक मार्गों से, पश्चिम में जो अन्वेषण हो रहा है उस से, आगे चल के, इन सब विषयों का जो भारतीय शास्त्र, योग और तंत्र-मंत्र का, नष्ट-भ्रष्ट हो गया है, उस का वैज्ञानिक रूप में जीर्णोद्धार होगा—इस की संभावना है । अस्तु । इस स्थान पर आधिदैविक शब्द के अर्थ के निर्णय के संबंध में यह चर्चा हुई । निष्कर्ष यह कि दुखों का यह राशीकरण[४] एक सूचना मात्र है । भिन्न दृष्टियों से भिन्न प्रकारों की राशियां बनाई जा सकती हैं । विशेष-विशेष दुःखों के प्रकार अनंत असंख्य अपरिगणनीय हैं । दुःख का सामान्य रूप एक ही है, वह अनुभव से ही सिद्ध है अर्थात् 'मैं' का 'ह्रास;' जैसे 'मैं' की 'वृद्धि' बहुता, बाहुल्य, सुख है; "भूमा एव सुखम्" । अध्यात्म, अधिभूत, अधिदेव—यह सदा अभेद्य रूप से परस्पर बद्ध हैं । जिस की कहीं प्रधानता हो जाती है, वहां उसी का नाम दिया जाता है । आयुर्वेद में रोगों की प्रायः दो राशि की हैं, एक आधि अर्थात् मानस, और दूसरी व्याधि अर्थात् शारीर । और यह भी कहा है कि आधि से व्याधि और व्याधि से आधि उत्पन्न होती है[५] ।

---

[१] "What I know not is not knowledge."

[२] Nature spirits, angels, sylphs, fairies, undines, gnomes, brownies, ghosts, devils, demons, fiends, vampires, succubi, incubi, etc. [३] Psycho-analysis, psychiatry, psycho-therapy, psychical research. "The neurotic patient is set *free* from his neurosis"—this is an idea and expression of frequent occurrence in *psycho-ana-lytic* literature, and it is noteworthy.

[४] Classification.

[५] Compare :"..Psychogenic disorders, that is, disorders originating in the mind....are variously distinguished as 'psycho-neuroses,' 'functional nervous disorders', or, more popularly, 'nervous diseases.' They include neurasthenia, hysteria. anxiety neuroses, phobias, and obsessions, all of which conditions are ultimately due to disturbances of emotional life. In the psycho-

इन सब वर्गों के, अर्थात् मानस, शारीर, और मध्यवर्ती अवांतर जो कोई हों, सब दुःखों का, एकांत, निश्चित, और अत्यंत, सदा के लिए, जड़ मूल से, जो फिर न उपजें, ऐसा नाश, दृष्ट उपायों से, औषध आदि से, नहीं होता देख पड़ता है। इस लिए ऐसे उपाय की जिज्ञासा होती है जिस से इन का समूल, सार्वदिक, असंशयित विनाश हो जाय। वह कैसे हो ?

सांख्य का उत्तर है,

ज्ञानेन चाऽपवर्गो······व्यक्ताऽव्यक्तज्ञविज्ञानात्।

बुद्धिर्विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषांतरं सूक्ष्मम् ॥ (सांख्यकारिका)

सच्चे ज्ञान से ही अपवर्ग होता है। 'ज्ञ', ज्ञाता, द्रष्टा, आत्मा, पुरुष स्पिरिट,[1] रूह, एक ओर ; ज्ञेय, प्रकृति, प्रधान, दृश्य, व्यक्त, मात्रा, मैटर,[2] माद्दा, जिस्म, दूसरी ओर ; इन का भेद-रूप संबंध, कारण-रूप अव्यक्त शक्ति तीसरी ओर; इन तीनों का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। ज्ञेय में उस के दोनों रूप, कार्य-रूप व्यक्त और कारण-रूप अव्यक्त, अंतर्गत हैं। और 'ज्ञ' में 'ज्ञेय' अंतर्गत है। अपवर्ग के इस ज्ञान-रूपी उपाय को, ख्याति को, विवेकख्याति को, प्रकृति और पुरुष के परस्पर अन्यता भिन्नता की ख्याति को, पुरुष के तात्विक स्वरूप की ख्याति को, कि वह प्रकृति से अन्य है, भिन्न है, इसी विवेकात्मक ख्याति को दर्शन कहते हैं, यह सांख्य का कहना है। "एकमेव दर्शनं, ख्यातिरेव दर्शनं"—ऐसा पंचशिख आचार्य का सूत्र है।

योग

पतंजलि के योग सूत्रों में भी ये ही बातें हैं।

परिणाम-ताप-संस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। हेयं दुःखमनागतम्। द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः। तस्य हेतुरविद्या। विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। (अ० २—सू० १५, १६, १७, २४, २६)।

---

neuroses the disorder is not primarily a disorder structure, but of function. 'Organic' diseases, as distinct from 'functional', are preponderatingly physical in origin, their cause being some defect of bodily structure. It is a fact that emotional disturbances can produce physiological changes:" J. N. Hadfield, *Psychology and Morals*, p. 1, (pub. 1927).

[1] Spirit.

[2] Matter, **"मात्रास्पर्शास्तु कौंतेय,"** etc. **मांति, परिमापयंति, अवच्छेदयंति, आत्मानं, इति मात्राः, महाभूतानि, इंद्रियविषयाणि, इन्द्रियाणि च।**

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः । पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं, स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति । (अ०,सू०४-३०-३४) ।

अर्थात्, जिस को हम लोग सुख समझते हैं वह भी, विवेक से, बारीक तमीज़ से, देखने से, कोमल चित्त वाले, नाज़ुक तबीयत वाले, जीव के लिए दुःख ही है। परिणाम में, आख़िरत में, वह भी दुःख ही देता है, इस लिए आदि से ही सब संसार दुःखमय, दुःखव्याप्त, जान पड़ता है। जिस को यह मालूम है कि मुझे कल ज़हर का प्याला पीना पड़ेगा ही, उस को आज स्वादु से स्वादु खाद्य चोष्य लेह्य पेय व्यंजन भी प्रिय नहीं लग सकता। और भी। विविध प्रकार की वृत्तियां, वासनाएं, चित्त के भीतर परस्पर कलह सदा किया करती हैं, एक को पूरी करने का सुख होता है, तो साथ ही दूसरी तीसरी के भंग का दुःख होने लगता है, इस से भी सब जीवन सुकुमार-चित्त वाले विवेकी विद्वान् को दुःखमय जान पड़ता है। इस लिए, जो दुःख बीत गया उस की तो अब कोई चिकित्सा नहीं हो सकती, जो आने वाला है उस को दूर रखना चाहिए। कैसे दूर हो ? तो पहिले रोग का कारण जानो, तब चिकित्सा करो। सब दुःखों का मूल कारण, द्रष्टा और दृश्य, पुरुष और प्रकृति, का संयोग है। और उस संयोग का भी हेतु मिथ्याज्ञान, ग़लत-फ़हमी, धोका, ला-इल्मी, बेवक़ूफ़ी, अविद्या है। उस को दूर करने का एकमात्र उपाय, तत्वज्ञान, सच्चा ज्ञान, विद्या, वक़ूफ़, इर्फ़ान, मारिफ़त, यानी यह कि पुरुष और प्रकृति के, चेतन और जड़ के, विषयी और विषय के, 'मैं' 'और मेरे' के, विवेक को, फ़र्क़ को, भेद को, ख़ूब अच्छी तरह पहिचानो। इस विवेक-ख्याति से सब कर्म और क्लेशों की निवृत्ति होगी। और वासना, तृष्णा, के क्षीण होने पर, सत्त्व-रजस्-तमस् अर्थात् ज्ञान-क्रिया-इच्छा, तीनों गुण, स्पंद-रहित होकर शांत हो जायेंगे, बीजावस्था को चले जायंगे, और चित्, चेतन, आत्मा, अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जायगा, केवल अपने ही को देखेगा, 'एकमेवाद्वितीयं' रूपी कैवल्य को प्राप्त हो जायगा, अपने सिवा किसी दूसरे को कहीं भी कभी भी नहीं देखेगा,। 'ग़ैरियत' को छोड़ कर 'अनानियत' में क़ायम हो जायगा। जब रूह को, आत्मा को, अपना सच्चा स्वरूप मालूम हो जाता है, तब चंचल इच्छाओं की अधीनता से, दीनता से, हिर्सो-हवस की असीरी से, वह मुक्त हो जाता है। सब काल में, सब देश में, केवल 'मैं ही मैं हूँ,' 'सब वासना केवल मेरे ही अधीन हैं, मैं उन का अधीन नहीं हूँ,' ऐसा कैवल्य, वहदियत, परतंत्रता से मोक्ष, सब दुःखों के जड़ मूल से नजात, छुटकारा, उस को प्राप्त होता है।

(पूर्व) मीमांसा

जैमिनि के मीमांसा सूत्रों का भी पहिला सूत्र वही है जो वैशेषिक का।

अथातो धर्मजिज्ञासा।

इस के भाष्य में शबर मुनि ने कहा है,

तस्माद् धर्मो जिज्ञासितव्यः । स हि निःश्रेयसेन पुरुषं संयुनक्तीति प्रतिजानीमहे ।

को धर्मः, कथं लक्षणः, कान्यस्य साधनानि, कानि साधनाभासानि, किंपरश्चेति । धर्मं प्रति हि विप्रतिपन्ना बहुविदः, केचिदन्यं धर्ममाहुः केचिदन्यं ! सोऽयमविचार्य प्रवर्त्तमानः कंचिदेवोपाददानः विहन्येत, अनर्थं वा ऋच्छेत् ।

अर्थात् धर्म के सच्चे स्वरूप को जानना चाहिए, धर्म क्या है, कर्त्तव्य क्या है, इस का लक्षण क्या है, इस के साधन क्या हैं, धोखा देने वाले धर्माभास और साधनाभास क्या हैं, इस का अंतिम तात्पर्य, इस का प्रयोजन, क्या है। धर्म के विषय में बड़े जानकार मनुष्यों में भी मतभेद और विवाद और भ्रांति देख पड़ती है, कोई एक बात कहते हैं, कोई दूसरी बात कहते हैं। तो बिना गहिरा विचार किए, किसी एक को धर्म मान ले और तदनुसार आचरण करने लगे तो बहुत संभव है कि मारा जाय, अथवा बड़ी हानि उठावे। इस लिए धर्म के सच्चे स्वरूप को खोजना और जानना चाहिये। धर्म के सच्चे ज्ञान और आचरण से पुरुष को निःश्रेयस प्राप्त होता है। यह मीमांसा शास्त्र की प्रतिज्ञा है।

यद्यपि मीमांसा शास्त्र का साक्षात् संबंध कर्मकांड से, यज्ञादि-आपूर्त्तादि धर्म से कहा जाता है, ब्रह्मज्ञान से और ब्रह्म से नहीं, तो भी उस का अंतिम लक्ष्य वही है जो दूसरे दर्शनों का। प्रसिद्ध यह है कि नित्य, नैमित्तिक, और काम्य (अर्थात् यज्ञ यागादिक 'इष्ट, और वापी कूप तड़ाग आदि के लोकहितार्थ निर्माण आपूर्त्त) कर्म से, स्वर्ग मिलता है, और स्वर्ग में विविध प्रकार के उत्कृष्ट इंद्रिय-विषयक सुख मिलते हैं, अमृतपान, नंदनवन, गंधर्व और अप्सरा का गीत वाद्य नृत्य आदि। पर मीमांसा में 'स्वः' शब्द की जो परिभाषा की है उस का अर्थ कुछ दूसरा ही है।

यत् न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनंतरम् ।
अभिलाषोपनीतं च तत्पदं स्वःपदास्पदम् ॥

जिस सुख में दुःख का लेश भी मिश्रित न हो, जिस का कभी लोप न हो, जो कभी दुःख से ग्रस्त अभिभूत न हो जाय, जो अपनी अभिलाषा के अधीन हो, किसी पराए की इच्छा के अधीन नहीं, उस पद को, उस अवस्था को, उस सुख को 'स्वः' शब्द से कहते हैं। तो यह सुख तो पूर्व-परिचित सांख्यादि दर्शनों का कहा हुआ आत्यंतिक ऐकांतिक आत्मवशता-रूप निःश्रेयस मोक्ष ही है।

मनु ने भी कहा है,

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखं।
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ (४-१६०)
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥ (१२-९१)

परवशता ही दुःख, आत्मवशता ही सुख है। जो अपने को सब में, सब को अपने में, समदृष्टि से देखता, और इस दर्शन से ही सर्वदा आत्म-यज्ञ करता है, वह स्वाराज्य को पाता है। निःश्रेयस, मोक्ष, निर्वाण, अपवर्ग, कैवल्य, स्वरूप-प्रतिष्ठा, सब पर्याय हैं।

इस रीति से देखने से जान पड़ेगा कि, जैसा कुछ लोग विचार करते हैं कि पूर्व मीमांसा का और उत्तर मीमांसा का अशमनीय विरोध है, सो ठीक नहीं। धर्म और ब्रह्म, कर्म और ज्ञान, प्रयोग और सिद्धांत, लोक और वेद, व्यवहार और शास्त्र, प्रैक्टिस और थियरी, ऐप्लिकेशन और प्रिंसिपल, सायंस और फिलासोफी,[1] अमल और इल्म, का संबंध अविच्छेद्य है। शुद्ध आचरण से, पुण्य कर्म से, शुद्ध ज्ञान; और शुद्ध ज्ञान से शुद्ध कर्म—ऐसा अन्योऽन्याश्रय है।

वेदांत अथवा उत्तर मीमांसा

बादरायण के कहे ब्रह्म सूत्रों में तो प्रसिद्ध ही है कि आत्मा के, 'मैं' के, ब्रह्म के, सच्चे स्वरूप के ज्ञान से, ब्रह्मलाभ, ब्रह्मसम्पत्ति, सब दुःखों से मुक्ति, आनंद और शांति की परा काष्ठा की प्राप्ति, होनी है। इन सूत्रों को वेदांत के नाम से कहते हैं, यद्यपि यह नाम तत्त्वतः तो उपनिषदों का है, क्योंकि वेद नाम से विख्यात ग्रंथों के अंत में ये उपनिषद् रक्खे हैं; अथ च वेद का, ज्ञान का अंत, समाप्ति, पूर्णता, परा काष्ठा, परमता, जिस को बौद्ध संकेत में पारमिता, प्रज्ञापारमिता, कहते हैं, इन में पाई जाती है। कर्म कांड के पीछे ज्ञान कांड का रखना सर्वथा न्याय-प्राप्त, मानव जीवन के विकास के क्रमिक इतिहास के अनुसार ही, है। पहिले प्रवृत्ति, तब निवृत्ति। पहिले यौवन में बहिर्मुखवृत्ति और चंचलता और विविध कर्मों में लीनता, पीछे वार्धक्य में अंतर्मुखता, कर्म-शिथिलता, स्थितिशीलता, स्थिरबुद्धिता, ज्ञानपरायणता। वेदांत को ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या, पराविद्या, आदि नाम से भी पुकारते हैं। और ऐसा जान पड़ता है कि, भगवद्गीता के गायक कृष्ण के समय में, सांख्य और योग इसी वेदांत के ही दो अर्ध, पूर्वार्ध-परार्ध, अर्थात् ज्ञानांश और कर्मांश, शास्त्रांश-प्रयोगांश, थियरी-प्रैक्टिस, सायंस आफ़ पीस और सायंस आफ़ पावर (आकल्ट सायंस,

[1] Practice and theory, application and principle, science and philosophy.

मैजिक, थामेटर्जी)[१], मेटाफ़िज़िक्स और स्युपर-फ़िज़िक्स (या साइको-फ़िज़िक्स) इल्म-अमल, इर्फ़ान-सुलूक, समझे जाते थे।

सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदंति न पंडिताः। (गीता)

सांख्य और योग को वे ही लोग पृथक् बताते हैं जिन की बुद्धि अभी बाल्यावस्था में है, बालकों की सी है। सद्-असद्-विवेकिनी बुद्धिः पंडा, सा संजाता यस्य स पंडितः। सत् और असत् में विवेक कर सकने वाली बुद्धि का नाम पंडा, वह जिस में सम्यक् जात, अच्छी तरह से उत्पन्न हो गई है, वह पंडित। जो पंडित है वह सांख्य और योग को पृथक् नहीं देखता, उनको एक दूसरे के पूरक समझता है।

ब्रह्म सूत्रों में दर्शन के प्रयोजन का प्रतिपादन करने वाले सूत्र ये हैं,

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। जन्माद्यस्य यतः।। तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्। (अ०१,पा० १,सू०१, २, ७)। तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्। यदेव विद्ययेति हि। भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते। (४-१-१३, १८, १६) संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्। मुक्तः प्रतिज्ञानात्। अनावृत्तिः शब्दाद् अनावृत्तिः शब्दात्। (४-४-१, २, २२)

अर्थात् बृहत्तम, ब्रह्म, सब से बड़े पदार्थ, की खोज करना चाहिए, उस को जानना चाहिए। जो पदार्थ ऐसा बृहत्तम, महत्तम, महतो महीयान्, कि यह सब संसार उस के अधीन हो, " वशे प्रभो मृत्युरपि ध्रुवं ते, " कोई वस्तु जिस के अधिकार के बाहर न हो, जिस को, जिस से, जिस के लिए, जिस में से, जिस का, जिस में, और जो ही स्वयं, (यतः, सार्वविभक्तिकस्तसिः), यह सारा व्यस्त समस्त जगत् हो। यह इष्टों का इष्ट, बंहिष्ठ भी अल्पिष्ठ भी, महिष्ठ भी अणिष्ठ भी, गरिष्ठ भी लघिष्ठ भी, दविष्ठ भी नेदिष्ठ भी, श्रेष्ठ भी प्रेष्ठ भी, चेतना, चित्, चितिशक्ति, चैतन्य, आत्मा ही है। इस विद्या, इस ज्ञान, इस अनुभव में परिणिष्ठित होने से, अभेद-बुद्धि का, "युनिवर्सालिटी, युनिटी, कन्टिन्युइटी, आफ़ आल लाइफ़, कान्शसनेस्, नेचर," [२]का, तौहीद, इत्तिहाद, ला- तफ़्रीक़ का, यक़ीन हो जाता है। तब आत्मा को बांधने वाले, बंधन में डालने वाले, आज़ादी, स्वतंत्रता, स्वराज्य से गिरा कर परतंत्रता, पराधीनता, दीनता में डालने वाले, सब पुण्य पापों के मूल राग-द्वेष आदि

---

[१] Theory-practice ; Science of Peace and Science of Power (occult science, magic, thaumaturgy, etc); metaphysics-superphysics (or psycho-physics).

[२] Universality, unity, continuity, of all life, of all consciousness, of all nature.

की वासना का, तृष्णा का, मायाबीज की घोरता उग्रता का, जिस को अब पच्छिम में "विल्-टू-लिव्, विल-टु-पावर, लिबिडो, एलान् वीटाल्, हार्मे, अर्ज-आफ़-लाइफ़ "[1] आदि नामों से पहिचानने और कहने लगे हैं, क्षय होता है। तब शांत मन से, अपने प्रारब्ध कर्मों के फलभूत सुख-दुःखों का सहन करता हुआ, स्थिर-बुद्धि, असंमूढ़, स्थितप्रज्ञ, अपने परमात्मभाव में संपन्न और प्रतिष्ठित, जीव सब मिथ्या भावों से मुक्त हो जाता है[2]। जब तक शरीर रहता है तब तक अपने कर्त्तव्यों को पालन करता रहता है, पर नए धोखों के चक्कर में नहीं पड़ता, और छूटने के बाद फिर इस जगत् में नहीं आता।

ब्रह्मविद् आप्नोति परम्। ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति। ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।[3]

ब्रह्म को जानने वाला परम पदार्थ परमार्थ को पाता है। जो ही ब्रह्म सदा से था वही ब्रह्म फिर भी हो जाता है, वही बना रहता है।

मुहम्मद पैग़ंबर की हदीस है, 'अल आनः कमा कानः," मैं जैसा था वैसा हो गया और वैसा हूँ। ब्रह्म शब्द का अर्थ ही है बृहत्तम, सब से बड़ा भी, और अनंत बढ़ने की शक्ति रखने वाला भी।

बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाच् चात्मैव ब्रह्मेति गीयते।

ऐसा पदार्थ "मैं" आत्मा ही है, इस लिए आत्मा ही को ब्रह्म कहते हैं। जिस ने ब्रह्म को, आत्मा को, पहिचाना, जिस को यह निश्चय हो गया कि "मैं" परमात्म-स्वरूप है और हूँ, चिन्मय, सब से बड़ा, अमर, "अनल-हक़", "ला इलाहा इल्ला अना", "मैं" के, मेरे, सिवा और कोई दूसरा अल्ला नहीं, उस को सब कुछ मिल गया।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥ (गीता)

मनुष्य को अथक मन से उस योग में जतन करना चाहिए, लग जाना चाहिए, जिस से सब दुःखों से वियोग हो जाय, और उस पदार्थ से संयोग हो जिस का लाभ हो जाने पर अन्य किसी वस्तु के लाभ की तृष्णा नहीं रह जाती, जिस से बढ़ कर और कोई दूसरा लाभ नहीं।

---

[1] Will-to-live, will-to-power, libido, elan vital, horme, urge-of-life.

[2] Is finally freed from the root psycho-neurosis. A-vidya.

[3] तैत्तिरीय, बृहदारण्यक, नृसिंहोत्तर, मुंडक उपनिषत्।

पाश्चात्य मत आश्चर्य से जिज्ञासा की उत्पत्ति

इन सब उद्धरणों से यही सिद्ध होता है कि पूर्व देश में दर्शन पदार्थ का आरंभ, सब बंधनों से मोक्ष पाने की इच्छा से, आत्यंतिक ऐकांतिक दुःख जिहासा सुखलिप्सा से, हुआ है। पच्छिम देश में विविध मत कहे गए है। पर ऐसा जान पड़ता है कि गहिरी दृष्टि से देखने से, उन सब का भी पर्यवसान इसी में पाया जायगा।

प्लेटो और आरिस्टाटल ने कहा है कि फलसफा, दर्शन, का आरंभ "वंडर"[1] अर्थात् आश्चर्य से होता है, आश्चर्य से जिज्ञासा उत्पन्न होती है। गीता में भी इस का इशारा है,

> आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनं, आश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
> आश्चर्यवच्चैनम् अन्यः शृणोति, श्रुत्वाऽप्येन वेद न चैव कश्चित्॥ (गीता)

आश्चर्य से लोग इस सब सृष्टि को देखते हैं, सुनते हैं, कहते हैं, पर कोई इस को ठीक-ठीक जानता नहीं।

तथा उपनिषदों में भी,

> श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः, शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
> आश्चर्यो वक्ता, कुशलोऽस्य लब्धा, आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥
> (कठ, १--२--७)

इस रहस्य का सुनना दुर्लभ है, सुन कर समझना दुर्लभ है। इस का जानने, कहने, सुनने, समझने, वाला—सब आश्चर्य है।

ऋग्वेद के संहिता भाग मे भी आश्चर्य से प्रेरित प्रश्न मिलते हैं,

> अमी य ऋक्षा निहितास उच्चाः नक्तं ददृशे कुहचिद्दिवेयुः।
> अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि, विचाकशत् चन्द्रमा नक्तमेति॥
> (मं० १, सू० २२)

ये तारे ऊँचे पर रक्खे हुए। रात में देख पड़े, दिन में कहां चले गए? वरुण के कर्म, अर्थात् आकाश के अचरज, समझ के पार हैं। रात में चमकता हुआ चंद्रमा निकलता है। तथा यजुर्वेद में,

> किं स्विदासीदधिष्ठानम्, आरंभणं कतमस्स्वित् कथासीत्।
> यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा विद्याम् और्णोन् महिना विश्वचक्षाः॥
> (अ० २३)।

इस जगत् का आरंभक अधिष्ठान सर्वव्यापी क्या था, कौन था, कैसा था? किस विश्वकर्मा ने, सब रचना की शक्ति रखने वाले ने, सब कुछ कर सकने वाले ने, सर्वशक्तिमान् ने, उस में से इस भूमि को उत्पन्न किया?

किस सर्वचक्षा ने, सब कुछ देखने वाले ने, सर्वज्ञ ने, इस आकाश में, इस द्युलोक को, अपनी महिमा से फैलाया ?

ऋग्वेद का, दस ऋचा का, हिरण्यगर्भ सूक्त (म० १, सू० १२१) सब का सब इसी प्रश्न को पूछता है, "कस्मै देवाय हविषा विधेम।" उस का पहिला मंत्र यह है,

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताऽग्रे, भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां, कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

सोने के ऐसा चमकता हुआ, सब से पहिला, सब भूतों का पति, इस पृथ्वी और इस आकाश का फैलाने और सम्हालने वाला, जिस ने ऐसे अचरज रचे, वह कौन देव है, कि उस की हम पूजा करें ?[1]

अचरज की चर्चा चली है। इस अचरज को भी देखिए कि जो ही प्रश्न वेद के ऋषि के मन में उठे, जो ही प्रश्न आज काल के, अच्छी से अच्छी, ऊंची से ऊंची, शिक्षा पाए हुए, बुद्धिमत्तर, पश्चिमी विद्वान् के मन में उठते हैं, वे ही प्रश्न अफ्रीका की अशिक्षित जातियों में से एक, 'बासूटो', जाति के एक मनुष्य के हृदय में उठते हैं, और वैसे ही सरस और भावपूर्ण शब्दों में उठते हैं।

"एक देशाटन के प्रेमी सज्जन ने शुद्ध निष्कारण मानस कुतूहल का उदाहरण लिखा है। एक बेर, 'बासूटो' जाति के एक मनुष्य ने उन से कहा—बारह वर्ष हुए मैं अपने पशुओं को चराने ले गया। आकाश में धुंध थी। मैं एक चटान पर बैठ गया। मेरे मन में शोक भरे प्रश्न उठने लगे। शोक भरे, क्योंकि उन का उत्तर सूझ नहीं पड़ता था। तारों को किसने अपने हाथों से छुआ है ? किन किन खंभों पर ये रक्खे हैं ? पानी सदा बहता ही रहता है। कभी थकता नहीं। बहना छोड़ दूसरा काम कोई उस को आता नहीं। सवेरे से शाम तक, शाम से सवेरे तक, बहता ही रहता है। कहीं भी ठहरता है, कभी भी आराम लेता है, या नहीं ? कौन उसे बहाता है ? बादल आते हैं, जाते हैं, फट कर पृथ्वी पर पानी के रूप में गिरते हैं। कहां से आते हैं ? कौन भेजता है ? हवा को मैं देख नहीं सकता। पर है अवश्य। क्या है ? उस को कौन चलाता है ? सिर झुका कर, दोनों हाथों से मुंह छिपा कर, मैं सोचता रह गया।"[2]

---

[1] कोई, इस सूक्त का व्याख्यान, प्रश्नात्मक नहीं करते, किंतु वर्णनात्मक और नमस्कारात्मक करते हैं, 'कस्मै' को, सर्वनाम 'कः' की नहीं, बल्कि प्रजापति-वाचक 'कः' की, चतुर्थी का रूप कहते हैं। साधारणतः वह रूप 'काय' लौकिक संस्कृत में होता है, पर वैदिक में 'कस्मै' भी हो सकता हो।

[2] "In the following, reported by a traveller, we have an instance of this spontaneous transition to disinterested curiosity,

प्रश्न वे ही अथवा वैसे ही हैं जैसे वेद के। उत्तर बेचारा 'बासूटो' कुछ भी नहीं समझ पाता। उस की जीवात्मा का अधिक उत्कर्ष होने पर कुछ समझेगा। प्रश्न शोकपूर्ण है, क्योंकि उत्तर नहीं सूझता; और मुंह को हाथों से ढांक कर सोचता है, 'इन बातों में प्रकृति देवता ने क्या आफ़त छिपा रक्खा है'? इस पर आगे कुछ कहा जायगा। पश्चिम के सभ्य देशों का आधुनिक वैज्ञानिक विद्वान् इन प्रश्नों का बहुत कुछ उत्तर देता है, और कार्य-कारण की परम्परा को बहुत दूर तक ले जाता है, पर अंत में, मूल कारण के विषय में, वह भी शोकपूर्ण हो जाता है, मुंह को हाथों में छिपा कर गहिरा सोच करता ही रह जाता है, और "दी मिस्टरी आफ़ दी यूनिवर्स" के सामने, या तो "चांस", या "लॉ आफ़ एवोल्यूशन", या "एनर्जी", या "अन्-नोएब्ल" प्रभृति शब्दों का, या "गाड"[१] शब्द का, प्रयोग करता है। वैदिक ऋषि ने उस को सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ ब्रह्म, परमात्मा, चैतन्य, ऐसे नामों से समझने समझाने का प्रयत्न किया है।

मानस कुतूहल से जिज्ञासा तथा संशय से तथा कल्पना की इच्छा से

पच्छिम में अधिकतर विचार साम्प्रत काल में यह रहा है कि जैसे अन्य उत्कृष्ट ज्ञानों और शास्त्रों का, वैसे ही फलसफ़ा का, प्रेरक प्रयोजक हेतु, सम्पूर्णतः नहीं तो मुख्यतः, "इंटेलेक्चुअल क्युरियासिटी"[२], मानस कुतूहल है। बच्चों को नई वस्तु के विषय में बड़ा कुतूहल रहता है, यह क्या

---

in the case of an intelligent Basuto: 'Twelve years ago' (the man himself is speaking) 'I went to feed my flocks. The weather was hazy. I sat down upon a rock and asked myself sorrowful questions; yes, sorrowful, because I was unable to answer them. Who has touched the stars with his hands? On what pillars do they rest? The waters are never weary; they know no other law than to flow without ceasing—from morning till night, and from night till morning; but where do they stop, and who makes them flow thus? The clouds also come and go, and burst in water over the earth. Whence come they? Who sends them?....I can not see the wind; but what is it? Who brings it, makes it blow?.... Then I buried my face in both my hands.'.." Casalis, *The Basutos*, p, 239), quoted in a foot-note at p. 371 in *The Psychology of the Emotions* by Ribot.

[१] The mystery of the Universe; Chance; Law of Evolution; Energy; Unknowable: God.

[२] Intellectual curiosity,

है, क्यों है, इस का नाम क्या है, यह कैसे हुआ, कैसे बनता है, इत्यादि। जो बाल्यावस्था में ज्ञान के बर्धन का कारण है वही प्रौढ़ावस्था में भी।

जो अशिक्षित जाति को उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ाता है वही सुशिक्षित जाति को और आगे चलाता है। पैथागोरस ने फ़लसफ़ा का जन्म शुद्ध ज्ञान की इच्छा से, अथवा नवीन रचना कल्पना कर सकने के लिये उपयोगी ज्ञान पाने की इच्छा से, बताया है। तथा डेकार्ट ने संशय से। ये दोनों भी, एक ओर आश्चर्य से दूसरी ओर कुतूहल से, मिलते हैं। यह सब विचार भी निश्चयेन अंशतः ठीक है। जैसे बासूटो के प्रश्नों में शोक निगूढ़ होने का प्राकृतिक गभीर अभिप्राय है, वैसे ही इस कुतूहल, संशय ज्ञानेच्छा, में भी वही अभिप्राय अंतर्हित है; निष्कारण कुतूहल नहीं है। यह आगे दिखाने का यत्न किया जायगा। पर तत्काल इस कुतूहलवाद को पच्छिम में यहां तक बढ़ा दिया कि विज्ञानशास्त्री और कलावित् कहने लग गए कि "सायंस इज़ फ़ार दी सेक आफ़ सायंस" 'आर्ट इज़ फ़ार दी सेक आफ़ आर्ट [१]"। अर्थात् मानव जीवन का और कोई लक्ष्य नहीं सिवा इस के कि शास्त्र की वृद्धि हो, कला की वृद्धि हो। मानव जीवन तो साधन, शेष, उपाय, मार्ग; और शास्त्र अथवा कला तो साध्य, शेषी, उपेय, लक्ष्य हो गए।

अतिवाद

पच्छिम में यह अतिशयोक्ति और अंधश्रद्धा, अतिभक्ति और मूढ़-ग्राह, वैज्ञानिक आधिभौतिक शास्त्रों के विषय में वैसे ही फैली जैसी भारतवर्ष में धर्मशास्त्रों के विषय में फैली; अर्थात् यहां तक कि अपने को पंडित मानने कहने वाले लोग भी, बुद्धिद्वेषी होकर, यह डिंडिम करने लग गए, कि "धर्म में बुद्धि का स्थान नहीं।" यद्यपि यह प्रायः प्रत्यक्ष-सिद्ध है, और पूर्व के भी और पच्छिम के भी पूर्वाचार्यों का माना हुआ सिद्धांत है, कि वैज्ञानिक शास्त्र भी और धर्म शास्त्र भी, सभी शास्त्र, परस्पर सम्बद्ध होते हुए, एक दूसरे की बाधा और व्याहति न करते हुए, एक व्यापक सत्य तथ्य ज्ञान के अंश और अंग होते हुए, देश-काल-निमित्त के अनुसार, मनुष्यों के व्यवहार के संशोधन और उन के जीवन के सुख के साधन और उत्कर्षण के लिए बने हैं और बनते जाते हैं। दर्शन के ग्रंथों से जो सूत्रादि पहिले उद्धृत किए गए, यथा, यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः, उन से स्पष्ट है कि धर्म पदार्थ मनुष्य के अभ्युदय और निःश्रेयस का साधन मात्र है, स्वयं साध्य नहीं। मनुष्य के लिए शास्त्र हैं, शास्त्र के लिए मनुष्य नहीं। इस तथ्य के

[१] "Science is for the sake of science," "Art is for the sake of art."

विरोधी अतिवाद की अतिवादता को विचारशील सज्जनों ने पच्छिम में भी अब पहिचाना है, और नामी नामी वैज्ञानिक कहने लगे हैं कि— "सायंस इज़ फ़ार लाइफ़, नाट लाइफ़ फ़ार सायंस,"[1] अर्थात् शास्त्र और कला आदि सब मानव जीवन के सुख के साधन मात्र हैं, स्वयं साध्य नहीं है। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि प्रत्येक सभ्य जाति में स्वास्थ्य और समृद्धि बनाने वाले क़ानून, विज्ञान के आधार पर बनाए जाते हैं, (वेद-मूलो हि धर्मः, धर्मो वेदे प्रतिष्ठितः, का जैसा अर्थ है, यानी ज्ञान पर, विज्ञान पर, सायंस-शास्त्र-वेद पर धर्म-कानून को प्रतिष्ठित होना चाहिए ही), और बड़े बड़े कर्मातां यंत्रालयों के साथ वैज्ञानिक योग्याशाला[2] भी रक्खी जाती हैं, जिन की उपज्ञाओं,[3] जिद्दतों, ईजादों, का, नवीन आविष्कारों का, उपयोग उन कर्मातों में किया जाता है। गत (ई० १९१४+१९१८ के) यूरोपीय महायुद्ध में ऐसी उपज्ञाओं का कैसा राक्षसी दुरुपयोग किया गया यह भी प्रसिद्ध है।

सांयस के स्वयं साध्य-लक्ष्य होने का जो अतिवाद कुछ दिनों प्रबल रहा, उसका मूल कारण यही रहा होगा कि मध्ययुगीन यूरोप में, कई सौ वर्ष तक, धर्म के बहाने, एक विशेष (रोमन कैथलिक) मत के रूप में धर्माभास ने अंधश्रद्धा को अतिप्रचंड कर, स्वावलंबिनी बुद्धि को दबा कर, विज्ञान को निगड़ित कर रक्खा था। तपस्या से, त्याग से,[4] शक्ति और ऐश्वर्य मिलते हैं; क्रमशः ऐश्वर्यमद और विषयलोलुपता बढ़ती है, जो रक्षक थे वे भक्षक होजाते हैं, फिर लोक का रावण अर्थात् रोआना, 'रुलाना' करके, बड़ा उथल पुथल मचा कर, दंड पाते हैं, पदच्युत होते हैं, नष्ट होते हैं; ऐसा क्रम इतिहास में बहुधा देख पड़ता है। मन्युस्तन्मन्युमृच्छति। अति अभिमान का शमन तज्जनित प्रत्यभिमान और रौद्र क्रोध से होता है। प्रायः इतिहास के पृष्ठों में, और आंख के सामने प्रवर्त्तमान जगद्वृत्त में, देखने में आता है कि धर्म और ज्ञान आदि के अधिकारी, तथा शासन और प्रभुत्व के अधिकारी, तथा धन के अधिकारी, आरंभ में यदि अच्छा भी करते हैं, तो काल पाकर सत्यपथ से, अपने कर्त्तव्य और सत् लक्ष्य से,

---

[1] Science is for life, not life for science.

[2] Experimental Laboratory. सुश्रुत में, "तस्माद् योग्यां कारयेत्", योग्या शब्द 'एक्सपेरिमेंट' के अर्थ में मिलता है।

[3] Discoveries; inventions.

[4] Self-denial, self-sacrifice.

शेख़ सादी ने गुलिस्तां में कहा है: "ख़ुर्दन बराय ज़ीस्तन अस्त, न कि ज़ीस्तन बराय ख़ुर्दन; व माल अज़ बहे आसायिशे उम्र अस्त, न कि उम्र अज़ बहरे गिर्द कर्दने माल"। अर्थात्, खाने के लिये जीना नहीं, जीने के लिये खाना है; माल जमा करने के लिये ज़िन्दगी नहीं, ज़िन्दगी के आराम के लिये माल जमा करना है।

बहँक जाते हैं, जनता के ज्ञान की सम्पत्ति का, निर्विघ्नता निर्भयता की सम्पत्ति का, अन्न-वस्त्र की सम्पत्ति का, शिक्षा-रक्षा-जीविका का, साधन करने के स्थान पर बाधन करने लगते हैं, जनता को ज्ञानशून्य और मूर्ख बना कर अपना दास बनाए रखना चाहते हैं।

अंग्रेजी में दो शब्द "प्रीस्टक्राफ़्ट" "और स्टेटक्राफ़्ट" हैं। अर्थ इन का—पुरोहित की कपटनीति और राजा की कपटनीति। दोनों का सार इतना ही है कि साधारण जनसमूह को बेवकूफ़ और कायर बना कर, अबुध और भीरु बना कर, उन को चूसते भूसते रहना।

चराणामन्नमचराः द्रंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः।
बुधानामबुधाश्चापि शूराणां चैव भीरवः॥

अर्थात् चलने वाले प्राणियों का आहार स्थावर वनस्पति आदि दांत वालों के दंतहीन, होशियारों के मूर्ख, और शूरों के भीरु होते हैं।

पर यह भी प्रकृति का अबाध्य नियम है, कि स्वार्थ वश किया हुआ पाप,

शनैरावर्त्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृंतति।

चक्र सदृश आवर्त करता हुआ, घूमता हुआ, "साइक्लिकल पीरियोडिसिटी"[२] से, क्रिया की प्रतिक्रिया के न्याय से, पाप लौटकर अपने करने वाले की जड़ को काट देता है। यही दशा पच्छिम में पुरोहितों और राजों की हुई। पहिले उन्होंने प्रजा का हित किया। फिर स्वार्थी हो कर प्रजा की बहुत हानि की। अंततः जनता ने अधिकांश उन पर से श्रद्धा हटा ली, और उन के अधिकार उन से ले लिए। इसी सिलसिले में दबी हुई बुद्धि और विज्ञान का, प्रतिक्रिया न्याय से, इतना अतिमात्र औद्धत्य हुआ कि उन्होंने ऐसा कहना अपनी शोभा मानी की बुद्धि के आगे अतींद्रिय पदार्थ कोई नहीं ठहरता, (यद्यपि बुद्धि स्वयं अतींद्रिय है!), और विज्ञान स्वयं साध्य है, (यद्यपि मनुष्यों ने अपने जीवन के सुख के साधन के लिए ही उसका आविष्कार किया है!)।

विशेष प्रयोजन से जिज्ञासा

किसी विशेष अर्थ की खोज में भी विशेष ज्ञान का संग्रह हो जाता है, और उस ज्ञान के क्रमबद्ध, कार्य-कारण-परम्परान्वित, होने से शास्त्र बन जाता है। जैसे अन्न वस्त्र की खोज में कृषि शास्त्र और गोरक्षाशास्त्र बने, घरेलू बर्तनों के तथा अस्त्र शस्त्र के लिए तांबा लोहा आदि, आभूषण और वाणिज्य

---

[२] Cyclical periodicity.

की सुविधा के लिए सोना चांदी आदि, अन्नपाचन शीतनिवारण तथा और बहुतेरे कामों में सहायता देने वाली अग्नि के लिए कोयला आदि, खनिजों की खोज से धातु शास्त्र, भूगर्भ शास्त्र, आदि का आरंभ हुआ; पृथ्वीतल पर भ्रमण, समुद्र पर यान, आदि की आवश्यकताओं से भूगोल खगोल के शास्त्र रचे गए; रोग निवृत्ति के लिए गौरवशाली चिकित्सा शास्त्र, और उस के अंग, शारीरिक अथवा कायव्यूह शास्त्र, वनस्पति शास्त्र, जन्तु शास्त्र, आदि बनाए गए। तो यह भी मानने की बात है कि विशेष अर्थ के अर्थ से, विशेष दुःख की निवृत्ति और विशेष सुख के लाभ के लिए, शास्त्र में प्रवृति होती है।

इस प्रकार से, धर्माभास और धर्मदम्भ के अतिवाद का शमन, सायंस-विज्ञान के आभास रूप प्रत्यतिवाद और प्रति गर्व से हुआ। अब दोनों अपने अपने आभासों और अतिवादों को छोड़ कर, तात्विक सात्विक मध्यमा वृत्ति पर आ जाँय, और परस्पर समन्वय, सङ्गति, सम्वाद, संज्ञान, सम्मति करैं—इसी में मानव जाति का कल्याण है। अस्तु। निष्कर्ष यह कि मानस कुतूहल भी निश्चयेन ज्ञान की बृद्धि में अंशतः प्रेरक हेतु है, पर जैसे आश्चर्य वैसे कुतूहल भी, परम्परया, उक्त मूल प्रयोजन का अवांतर और अधीन साधक है। इसको विशद करने का यत्न आगे किया जायगा।

कर्तव्य कर्म में प्रवर्त्तक हेतु की जिज्ञासा

पच्छिम में कुछ दार्शनिकों ने यह भी माना है कि कर्त्तव्य से जिस मनुष्य का चित्त किसी कारण से विमुख, निरुद्ध, प्रतिबद्ध, हो रहा है, उस को उस कार्य में प्रवृत्त करने के लिए, तथा अकर्त्तव्य को करने के लिए जिस का मन चंचल और व्युत्थित हो रहा है उस को उस से निवृत्त, निरुद्ध, शांत करने के लिए, भो, फलसफा का प्रयोजन होता है। यह एक व्यावहारिक प्रयोजन भी फलसफा का है। यह बात भी ठीक ही है।[१]

वैराग्य से जिज्ञासा

संसार की दुःखमयता को देख कर के भी, जैसा पूर्व में वैसा पच्छिम

---

[१] "The relationship between theoretical and practical philosophy is a psychological one. The inhibited person requires a stimulant before he can act, or a sedative in order to bear inaction; the practical philosophies provide these. Every philosophy, says Nietsche, however it may have come into existence, serves definite educative ends, *e. g.*, to encourage or to calm. etc." *Herzberg*, The Psychology of Philosophers, p. 213.

मे भी, कोमलचित्त, मृदुवेदी स्त्रियों और पुरुषों की, दार्शनिक विचार की ओर प्रवृत्ति हुई है[1]। यूरोप के मध्य युग में, जैसा भारत के मध्य युग में, और वर्तमान समय मे भी, इस "दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" की दृष्टि का प्रभाव अधिकतर यह होता रहा और है, कि लोग किसी न किसी प्रकार के भक्ति मार्ग या पंथ में जा रहते थे। "मोनास्टरी", मठ, विहार, मे पुरुष; "कानवेंट" या "नन्नरी" में स्त्रियाँ[2]। इस प्रकार से, भक्ति से, ईश्वर में, विष्णु, महादेव, दुर्गा, अल्ला, गॉड, जेहोवा, अहुरा मझ्दा में, ईसा में, बुद्ध, मुहम्मद, जरदुश्त, राम, कृष्ण में, मन लगा कर, संसार के झगड़ों से अलग हो कर, पर कुछ लोकसेवा भी करते हुए, जन्म बिता देते थे। कुछ गिने चुने जीव, ज्ञान की ओर झुक कर, दार्शनिक विचारों की सहायता से, अपने चित्त की शांति करते थे और दूसरों को शांति देने का यत्न भी करते थे।

उत्तम प्रकार के, सात्विक, परार्थी, लोकहितैषी विवेक-वैराग्य का यह स्वरूप है; जैसा बुद्ध का हुआ; जैसा ब्रह्मज्ञान के सब सच्चे अधिकारियों को होना चाहिए; अपने ही छुटकारे की चिंता नहीं। पच्छिम के एक ग्रंथकार ने कई पाश्चात्य दार्शनिकों के उदाहरण दिए हैं, जिन को भी, ऐसी शुद्ध नहीं, पर इस के समीप की, कोमलचित्तता का अनुभव हुआ।[3]

उक्त सब प्रकार उपनिषदों में भी दिखाए हैं। श्वेतकेतु बाल्यावस्था मे, खेल कूद में मग्न, प्रकृति के उग्र थे। पिता उद्दालक ने कहा, "वस ब्रह्मचर्यं, नैव सोम्यास्मत्कुलीनो ब्रह्मबंधुरिव भवति", गुरुकुल में, ब्रह्मचर्य का संग्रह करने वाली चर्या करते हुए, वास करो, विद्या सीखो; हमारे कुल में, आर्य कुल में, अनपढ़, अनार्य मनुष्य होने की चाल नहीं है। ब्रह्म शब्द के तीन अर्थ, परमात्मा भी; परमात्मनिष्ठ वेद अर्थात् सब सत्य विद्या, शास्त्र, ज्ञान भी; और अनंत संतान परम्परा की सृष्टि की दिव्य शक्ति का धारण करने वाला, शुक्र, वीर्य, भी; तीनों का सञ्चय करो। श्वेतकेतु ने चौबीस वर्ष की उम्र

---

[1] Thus, George Sand (quoted by Radhakrishnan, *Indian Philosophy*, I, 347) 'When the sadness, the want, the hopelessness, the vice, of which human society is full, rose up before me, when my reflections were no longer bent upon my proper destiny, but upon that of the world of which I was but an atom, my personal despair extended itself to all creation, and the law of fatality arose before me in such appalling aspect that my reason was shaken by it."

[2] Monastery; convent; nunnery.

[3] Herzberg, *The Psychology of Philosophers*.

तक पढ़ा ; घर लौटे, विद्या मद से स्तब्ध, "मैं सब कुछ जानता हूँ, मेरे ऐसा बुद्धिमान् विद्वान् दूसरा नहीं।" तरह-तरह के मद होते हैं, बलमद, रूपमदो, धनमद, ऐश्वर्यमद, तथा विद्यामद, बुद्धिमद भी। पिता ने देखा कि पुत्र ने बहुत कुछ सीखा, पर जो सब से अधिक उपयोगी बात है, जिस का सीखना सब से अधिक आवश्यक है, वही नहीं सीखा, मनुष्यता, इन्सानियत, नहीं सीखा, अपने को नहीं पहिचाना, मैं क्या हूँ, पोथी पत्रों के भार का वाहक ही हूँ, बहुत से शब्दों के उच्चारण करने का यंत्र मात्र हूँ, या कुछ और हूं, यह नहीं जाना।।उसकी सोई हुई आत्मा को जगाया। कुतूहल के द्वारा पूछा, "पुत्र, बहुत बा सीखा; क्या वह भी सीखा जिस से अनसुनी बात सुनी हो जाय, अनजानी बात जानी हो जाय ?"। श्वेत केतु ने कहा, "यह तो नहीं जाना, सो आप शिक्षा दीजिए।"

जनक की सभा में, जल्प और विवाद से भी आरम्भ करके, याज्ञवल्क्य आदि, इसी परमार्थ ज्ञान पर, श्रोताओं को लाये। कितने ही प्रष्टाओं ने, उपनिषदों में, दूसरे विषयों के प्रश्नों से आरंभ किया है, पर अवसान इसी में हुआ है। अर्थात् दुःख की जिहासा और सुख की लिप्सा ; सुख कैसे मिलै, दुःख कैसे छूटै। मक्खी और मच्छर, सांप और बीछू, बाघ और भेड़िये, क्यों पैदा हुए, यह अक्सर पूछा जाता है। आम और ईख, गुलाब और चमेली, कोयल और बुल्बुल, क्यों पैदा हुए, यह शायद ही कभी कोई पूछता हो। हाँ, मक्खी और मच्छर वग़ैरह कम कैसे हों, आम और ईख आदि बढ़ें कैसे, इस पर बहुत खोज और मेहनत की जाती है।

सब का संग्रह

ज्ञान और इच्छा और क्रिया का अविच्छेद्य संबंध है। जानाति, इच्छति, यतते। यद्ध्यायति तदिच्छति, यदिच्छति तत्करोति, यत्करोति तद्-भवति।

ज्ञान से इच्छा, उस से क्रिया, उस से फिर और नया ज्ञान, फिर और इच्छा, फिर और क्रिया, फिर और ज्ञान—ऐसा अनंत चक्र चला हुआ है। जिज्ञासा का अर्थ ज्ञातुम् इच्छा, ज्ञान की इच्छा। आश्चर्य, कुतूहल, नई कल्पना करने की अंतःप्रेरणा, संशय निवृत्त करने की इच्छा—ये सब जिज्ञासा के ही विविध रूप हैं। और सब का मर्म यही है कि, साक्षात् नहीं तो परम्परया, कार्य-कारण का संबंध जान कर, आज नहीं तो जब अवसर आवे तब, हम उस ज्ञान के द्वारा दुःख का निवारण और सुख का प्रसारण कर सकें। विशेष दुःख के उपाय की आकांक्षा, विशेष सुख के उपाय की कामना, से विशेष शास्त्र।

अशेष निःशेष दुःख की, दुःखसामान्य की, निवृत्ति की वांछा, उत्तम सुख, परमानंद, सुखसामान्य, की अभिलाषा, से शास्त्रसामान्य अर्थात् दर्शन-शास्त्र की उत्पत्ति होती है; और इस आशंसा की पूर्त्ति ही इस शास्त्र का प्रयोजन है। मीमांसा का सिद्धांत है "सर्वमपिज्ञानं कर्मपरं, विहितं कर्म धर्मपरम्, धर्मः पुरुषपरः अर्थात् पुरुषनिःश्रेयसपरः"; सब ज्ञान, कर्म का उपयोगी है; उचित न्याय्य कर्म, धर्म का उपयोगी है; धर्म, पुरुष का अर्थात् पुरुष के निःश्रेयस का। आत्मज्ञान ही निःश्रेयस परमानंद है। इसलिए,

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते। (गीता)

दर्शन की उत्पत्ति के, उक्त ज्ञानात्मक, इच्छात्मक, क्रियात्मक, "इंटेलेक्चुअल, इमोशनल, और प्रैक्टिकल अथवा ऐक्शनल",[1] सभी स्थानों का संग्रह, गीता के एक श्लोक में मिलता है।

चतुर्विधा भजंते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

आर्त्त, विशेष अथवा अशेष दुःख से दुःखित; जिज्ञासु, विशेष अथवा निश्शेष ज्ञान का कुतूहली; अर्थार्थी, अल्प अथवा परम अर्थ का अर्थी; और ज्ञानी; ये चार प्रकार के मनुष्य, मुझ को, विशेष इष्टदेव, ईश्वर, को, विशेष ज्ञानदाता, विशेष अर्थदाता को, अथवा "मैं" को, परमात्मा को, सर्वार्थ-दाता को, भजते हैं।

इन सब प्रकारों का मूल खोजा जाय, तो प्रायः सब का समन्वय हो जाय। अशक्तता, दुर्बलता, अतः पराधीनता और पर से भय, और भय का दुःख, और उस दुःख से छूटने की इच्छा, तथा स्वाधीनता, आत्मवशता, सर्व-शक्तिमत्ता, निर्भयता, और तज्जनित असीम सुख पाने की इच्छा—यह इच्छा इन सब प्रकारों के भीतर, व्यक्त नहीं तो अव्यक्त रूप से, अनुस्यूत है। 'वासूटो' मनुष्य के प्रश्न, देखने में शुद्ध मानस कुतूहल से जनित होते हुए भी, शोकपूर्ण थे। क्यों? उत्तर न दे सकने के कारण। "न सकना", अशक्तता, यही तो परवशता और दुःख का मूल स्वरूप है।

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥
(मनु, अ० ४, श्लोक १६०)

सब परवशता, विवशता, बेबसी ही दुःख, सब आत्मवशता, स्वतंत्रता, खुदमुख्तारी ही सुख; यह सुख और दुःख का तात्विक हार्दिक लक्षण थोड़े में ही जानो--यह मनु का आदेश है। दूसरे शब्दों में, इष्टलाभः सुखं, अनिष्टलाभः दुःखं; जो जो अपना चाहा पदार्थ है उसका मिलना सुख; जो जो अपना चाहा

---

[1] Intellectual ; emotional ; practical or actional.

नहीं है उसका मिलना दुःख। अपनी मर्ज़ी के ख़िलाफ़, अपने मन के विरुद्ध, कोई बात होना ही दुःख; अपनी ख़्वाहिश के मवाफ़िक़, अपने चित्त के अनुकूल, जो ही बात हो वही सुख। नश्वरता का दुःख, मृत्यु के भय का दुःख, यही सब भयों और सब दुःखों का सार है, परवशता की परा काष्ठा है; इस के निवारण के उपाय की जिज्ञासा मुख्य जिज्ञासा है; यह निवारण ही सब अर्थों का परम अर्थ है। और आत्मा के स्वरूप का ज्ञान, कि वह अजर-अमर है, स्वतंत्र है, पराधीन नहीं; सब उस के अधीन हैं, वह किसी के अधीन नहीं है; जो कुछ सुख-दुःख का भान उस को होता है वह अपनी ही लीलामयी संकल्प शक्ति, ध्यान शक्ति, इच्छा शक्ति, माया शक्ति, अविद्या शक्ति से ही होता है, दूसरे किसी के किए नहीं होता है—यही ज्ञान एक मात्र परम उपाय सब दुःख के निवारण और सब सुख अर्थात् परम शांति रूप परम आनंद के प्रापण का है। यदि मृत्यु का भय और दुःख मनुष्य को न होता, तो निश्चय है कि पृथ्वी पर धर्म-मजहब-रिलिजन का और दर्शन शास्त्र का दर्शन न होता। इन की जरूरत ही न पड़ती। कवि ने हंसी में बहुत सच कहा है, "ये भी कहेंगे फैली ख़ुदाई बज़ोरे मौत" (अकबर इलाहाबादी)। जब और जिस को यह भय है, तब और तिस को धर्म की, मजहब-रिलिजन की, दर्शन की, आवश्यकता, इस के शमन के लिए, रही है और होगी। धर्म को, दर्शन को, पृथ्वी से उठा देने का प्रयत्न करना, आकाश को लाठी से तोड़ना और बिना वायु के मनुष्य को जीते रखना है।

इसी लिए भागवत में, कुरान में, इञ्जील में कहा है।[1]

यस्यानुग्रहमिच्छामि तस्य सर्वं हराम्यहम्।

इस का, भगवद् गीता के उक्त श्लोक के साथ मिला कर, यों अनुवाद किया जाय, तो दर्शन की उत्पत्ति के सब स्थानों का समन्वय हो जाय,

ईश, आतमा, अंतर्यामी, कहत पुकारि-पुकारी,
जाको चहौं अनुग्रह वाकी छीनौं सम्पद सारी।
संपद खोइ, होइ आरत अति, परम अरथ अरथावै,
जिज्ञासा करि, ज्ञान पाइ तब, सब जग में मोंहि भावै ॥

पाश्चात्य कविता में उसी दिव्य वासना का अंकुर।

अंतरात्मा की यह दिव्य प्रेरणा, सात्त्विक वासना, सब देशों में, सब कालों में, अशिक्षित, सुशिक्षित सब मनुष्यों में, 'वासूटो' मनुष्यों में, वैज्ञानिक में, वैदिक ऋषि मे भी, सदृश रूप से काम कर रही है; कहीं प्रसुप्त अव्यक्त अनुद्बुद्ध है, कहीं किंचिद् व्यक्त अंकुरित स्पंदित है, कहीं तनु

[1] पूर्वगत पृष्ठ १२ को देखिये।

है, कहीं विच्छिन्न है, कहीं व्यक्त स्फुट उद्बुद्ध है, कहीं उदार है; पर सब को आत्मज्ञान,[१] आत्म-दर्शन, की ओर ले चल रही है। यह दिखाने को, दो अंग्रेजी कवियों की उक्तियों का उद्धरण करना चाहता हूँ। एक को शांत हुए कोई तीन सौ वर्ष हो गए, दूसरे को गुजरे अभी तीस बरस पूरे नहीं हुए।

जार्ज हर्बर्ट की गीत के सब पद्यों का संपूर्ण अनुवाद, उन के ऐसे सुंदर शब्दों में करना, तो मेरे लिए असंभव है, थोड़े में आशय यों कहा जा सकता है,

> सिरजि मनुज कौ ईश ताहि सब सम्पति दीन्ह्यौ,
> पर नहिं दीन्ह्यौ शांति, एक वा कौ रखि लीन्ह्यौ।
> इन खेलन ते थकि अवश्य कबहुंक उकतावै,
> करत शांति की खोज गोद मेरी फिरि आवै ॥[२]

ये सज्जन, जार्ज हर्बर्ट, अंग्रेज जाति के सच्चे ब्राह्मण पादरी थे। इन के जीवन में कोई विशेष दुरवस्था, अन्न वस्त्र का क्लेश, अथवा दुराचार पश्चात्ताप आदि का दुःख नहीं था; संसार से वैराग्य का भाव, इन के चित्त में, मृदु, सहज, शांत था। तदनुसार, कविता में हृदयोद्गार भी, इन का, सरल, शांत, भक्तिप्रधान है।

---

[१] Self realisation.

[२] When God at first made man,
Having a bowl of blessings standing by,
"Let us", He said, "pour on him all we can;
Let the world's riches which dispersed lie,
Contract into a span".
So Strength first made a way,
Then Beauty flowed, then Wisdom, Honour, Pleasure;
When almost all was gone, God made a stay,
Perceiving that alone of all his treasure,
Rest at the bottom lay.
For "If I should," said He,
'Bestow this Jewel also on my creature,
He would adore My gifts instead of Me,
And rest in Nature, not the God of Nature,
So both should losers be.
Yet let him keep the rest,
But keep them with repining Restlessness;
Let him be rich and weary, that, at least,
If Goodness lead him not, yet Weariness
May toss him to My breast."

दूसरे कवि, फ्रान्सिस टाम्सन, के जीवन मे आर्थिक क्लेश, दुरवस्था, और अनाचार के पश्चात्ताप का शोक, बहुत तीव्र हुआ। उन के अनुभव के अनुसार उन का हृदयोद्गार भी तीव्र करुणा से तथा तीव्र आनन्द से भरा है।

पूर्ववत् संक्षेप से आशयानुवाद उसका यह है।

जब विषाद अत्यंत तिहारे हिय में छावै,
सरब प्रान तें करु प्रकार, उत्तर तैं पावै।
रहत देवता ठाढ़ौ निसि दिन तेरे द्वारै,
मुख फेरे तूही रहै वाकौ न निहारै [1] ॥

विस्तार से, इन पश्चिमी कवियों के अनुभवों का, उन के हृदय के भावों और बुद्धि के दर्शनों का, सरसतर प्रतिरूप तो, मीरा, कबीर, आदि संतों और सूफ़ियों की उक्तियों में मिलता है।

मीरा ने रात में, हृदय की व्यथा के अंधकार में, सर्व प्राण से पुकार किया, और इष्ट का दर्शन पाया।

मीरा के प्रभु गहिर गंभीरा, हृदय रहो जी धीरा,
आधि रात प्रभु दर्शन देंगे, प्रेम नदी के तीरा।

और कबीर ने भी उन्हें देखा और पहिचाना और गाया।

---

[1] O world Invisible !, we view Thee,
O world Unknowable !, we know Thee,
O world Intangible !, we touch Thee,
Inapprehensible !, we clutch thee !
Does the fish soar to find the ocean,
The eagle plunge to find the air—
That we ask of the stars in motion,
If they have rumour of Thee there ?
Not where the wheeling systems darken,
And our benumbed conceiving soars—
The drift of pinions, would we hearken,
Beats at our own clay-shuttered doors.
The angels keep their ancient places—
Turn but a stone and start a wing !
Tis ye, 'tis your estranged faces,
That miss the many-splendoured thing.
But, when so sad thou canst not sadder,
Cry—and upon thy so sore loss
Shall shine the traffic of Jacob's ladder
Pitched betwixt Heaven and Charing Cross.
Yea, in the night, my soul !, my daughter !,
Cry—clinging Heaven by the hems ;
And lo !, Christ walking on the water,
Not of Gennesareth, but Thames.

मोकूँ कहां तू खोजै, बंदे !, मै तो तेरे पास,
नहीं अगिन मे, नहीं पवन मे, नहिं जल, थल, आकास,
नहिं मक्का मे, नहिं मदिना मे, नहिं काशी कैलास
नहिं मंदिर मे, नहिं मस्जिद मे, मै आतम बिस्वास—
मैं तो सब स्वांसा की स्वांस।

दक्खिन के एक सूफ़ी ने कहा है,

हक़ से नाहक़ मै जुदा था, मुझे मालूम न था,
शक्ले इन्सां मे ख़ुदा था, मुझे मालूम न था,
मत्लए दिल पे मेरे छाया था ज़ंगारे ख़ुदी,
चांद बादल में छिपा था, मुझे मालूम न था,
बावजूदे कि मुझदए तेरा, नहनो अक़्रब,
सफ़हे मसहफ़ पे लिखा था, मुझे मालूम न था,
हो के सुल्ताने हक़ीक़त इसी आबो गिल में
दर बदर मिस्ले गदा था, मुझे मालूम न था।

जैसा किसी संत ने कहा है,

जा के घर सुख का भंडारा, सो क्यों भटकै दर दर मारा।

क़ुरान और गीता में भी ये ही भाव मौजूद हैं,

व फ़ी अन्फुसेकुम इल्ला तुब्सरून।

अर्थात्, मैं तो तुम्हारे भीतर, तुम्हारी नफ़स में, मौजूद हूँ, तुम्हारी नस नस में व्यापा हूँ, पर तुम देखते ही नहीं हो, मुंह फेरे हुए हो, आंख बंद किए हो, तुम को आंख है ही नहीं, दर्शन करना चाहते ही नहीं।

अवजानंति मां मूढ़ा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानंतो मम भूतमहेश्वरम्॥

अर्थात्, मोह में पड़े हुए जीव, मनुष्य शरीर के भीतर छिपे हुए परमात्मा को, अपने को, पहिचानते नहीं, और 'मेरा' यानी अपना, तिरस्कार करते हैं, अपने को तुच्छ समझते हैं, यद्यपि यह आत्मा, उनकी आत्मा, सब की आत्मा, सब पदार्थों का महेश्वर है।

दर्शन और धर्म (मज़हब, रिलिजन)।

पच्छिम के आधुनिक प्रकारों से जिन्होंने विद्या का संग्रह किया है उनको, जो बातें ऊपर कही गईं उनसे, प्रायः शंका होगी कि दर्शन का, फ़लसफ़ा का, और धर्म-मज़हब का, संकर किया जा रहा है, और ऐसा करना ठीक नहीं है, क्योंकि पच्छिम में तो ये दोनों अलग कर दिये गये हैं।

इस शंका का समाधान यों करना चाहिये।

जैसा गीता में कहा है,

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यत्स्यादेभिस्त्रिभिर्गुणैः ॥

पुरुष की प्रकृति के ये तीन गुण, सत्त्व, तमस्, रजस्, सब भूतों में, सब प्राणियों में, सदा, सर्वत्र, व्याप्त, हैं। इन के बिना कोई वस्तु है नहीं। ज्ञान, इच्छा, क्रिया, और गुण, द्रव्य, कर्म, इन्हीं के रूपांतर कहिये, परिणाम, प्रसूति, फल कहिये, होते हैं[1]।

पर ऐसा घनिष्ठ मैथुन्य, अभेद्य संबंध, होते हुए, इन तीनों गुणों और उन के सन्तानों में परस्पर अशमनीय कलह भी सदा रहता है, यहां तक कि इन के वैषम्य से ही सृष्टि, संसार, "कास्मास", और इन के साम्य से ही प्रलय, "केआस"[2], घोर निद्रा, होती है।

अन्योऽन्याभिभवा-श्रय-मिथुन-जनन-वृत्तयश्च गुणाः ।
(सांख्य-कारिका)

अर्थात, ये तीनों गुण, सदा साथ भी रहते हैं, एक दूसरे को जनते अर्थात् पैदा करते रहते हैं, एक दूसरे के आसरे से ही रहते हैं, और एक दूसरे को दबाते भी रहते हैं।

इस प्राकृतिक नियम के अनुसार, ज्ञान जब बढ़ता है तब इच्छा और क्रिया दब जाती हैं; इच्छा जब उभड़ती है तब ज्ञान और क्रिया पीछे हट जाती हैं; क्रिया जब वेग बांधती है तब ज्ञान और इच्छा छिप जाती हैं। और, ऐसा, एक भाव का प्राधान्य, दूसरों का गौणत्व, तीनों को पारी-पारी होता ही रहता है; विविध परिमाणों, पैमानों, पर। यथा, एक दिन में, सबेरे यदि ज्ञान का प्राधान्य, तो दोपहर को इच्छा, तीसरे पहर क्रिया। एक वर्ष में, यदि (साधारण सर्दी गर्मी वाले देश में) वसंत और ग्रीष्म में ज्ञान, तो वर्षा-शरद् में इच्छा, और शिशिर-हेमन्त में क्रिया। एक जीवन में, आदि में ज्ञान (विद्यार्थी की ब्रह्मचर्यावस्था), फिर यौवन में इच्छा (गार्हस्थ्य का आरम्भ), फिर क्रिया (गार्हस्थ्य की जीविकार्थ, और वानप्रस्थता की विविध यज्ञ और त्याग आदि के लिए), फिर और गंभीर ज्ञान (संयास में आत्मचिंतन)। (यदि पुनर्जन्म माना जाय तो) एक जन्म में ज्ञान, दूसरे में इच्छा तीसरे में क्रिया। एक मानव जाति और युग में ज्ञान, दूसरे में इच्छा, तीसरे में क्रिया। इत्यादि।

---

[1] इस अर्थ को विशद करने का यत्न मैंने अपनी अँग्रेज़ी भाषा में लिखी पुस्तक, "The Science of Peace", के अध्याय ११ के परिशिष्ट में किया है।

[2] Cosmos ; Chaos.

यह एक उत्सर्ग की, सामान्य नियम की, सूचना मात्र है। इसके भीतर बहुत से अवांतर भेद, विशेष-विशेष कारणों से, हो सकते हैं, जो ऊपर से देखने मे, अपवाद, इस्तिस्ना, "एक्सेपशन"[1] ऐसे मालूम होते हैं; किन्तु यह अनुगम प्रायः निरपवाद ही है कि जिस जगह, जिस समय, जिस चित्त मे एक का विशेष उदय होता है, वहाँ अन्य का अस्त होता है। यहाँ प्रसंगवश इन तीन के, स्थूल रूप से, क्रमिक चक्रक, और परस्पर कलह पर ध्यान देना है।

संसार की अनेकता में एकता भी अनुस्यूत है ही; अन्यथा तर्क, अनुमान, न्याय, भविष्य का प्रबन्ध, नियम, धर्म, कानून, व्याप्तिग्रह, अनुगम, सांसारिक जीवन का मर्यादित व्यवहार, कुछ भी बन ही न सकता; यह प्रायः प्रत्यक्ष है कि प्रकृति के अनन्त अवयव, असंख्य अंश, सब परस्पर सम्बद्ध हैं, सब का अंगागि-भाव है; यह भी प्रत्यक्षप्राय है कि चेतन एकवत् और सर्वत्र व्याप्त है, सब को बांधे हुए है, (और इस को विस्पष्ट सुस्पष्ट करके, शंका समाधान करके, बुद्धि का संस्कार परिष्कार करके, हृदय में बैठा देना ही अंतिम दर्शन, वेदान्त, का काम है); यहाँ तक कि अब पाश्चात्य वैज्ञानिक भी "ओर्गनिक यूनिटी ऐण्ड कंटिन्युइटी आफ़ नेचर"[2] को पहिचानने लगे हैं, और कहने लगे हैं कि "सायंसेज़ आर नाट मेनी, सायंस इज़ वन"[3]; अर्थात् शास्त्र बहुत और पृथक् और विभिन्न नहीं है, अस्ल में शास्त्र, ज्ञान, वेद, एक ही है, और जिन को हम अलग-अलग शास्त्र समझे हैं वे सब एक ही महावृक्ष के मूल, स्थाणु, स्तम्भ, शाखा, प्रशाखा, वृन्त, पल्लव, आदि हैं। यद्यपि ऐसा है, तौ भी पर, तत्तच्छास्त्राभिमानी शास्त्रियों के, "सायंटिस्ट्स"[4] के, चित्त के अहंकार रूपी मुख्य दोष से, विविध शास्त्रों मे विरोध का आभास होता है, शास्त्री लोग एक दूसरे से कहा करते हैं कि हमारे तुम्हारे सिद्धांतों मे विरोध है, इत्यादि; यद्यपि स्पष्ट ही, एक ही सत्य तथ्य वास्तविक ज्ञान के अंशों में विरोध नहीं हो सकता; विरोध तो अविद्याकृत, अहंकारजनित, राग, द्वेष, अभिनिवेश से दूषित, शास्त्रिम्मन्यों के चित्तों में ही हो सकता है।

---

[1] Exception.

[2] Organic unity and continuity of Nature.

[3] Sciences are not many, Science is one.

[4] Scientists.

ऐसे ही, ज्ञान-इच्छा-क्रिया में भी, यदि ये विद्या से प्रेरित हों तो, कलह न हो, अन्योऽन्य का घोर अभिभव न हो, उचित आश्रय-मिथुन-जनन हो। पर, सांसारिक, आभ्युदयिक इच्छा तो स्वयं साक्षात् अविद्या का रूप ही है, संसृति का, संसरण का, जनन-मरण का कारण ही है। क्रिया-प्रतिक्रिया के दोलान्याय से, चक्रकन्याय से, "साइक्लिकल पीरियोडिसिटी" और "ऐक्शन रिऐक्शन"[१] के न्याय से, जब वह अपना रूप बदल कर, नैश्रेयसिक, पारमार्थिक इच्छा अर्थात् मुमुक्षा, शुभ वासना, नैष्काम्य, मे परिणत होती है, तभी इन तीनो के विरोध और कलह का कथंचन शमन कर सकती है। तब तक इन का संग्राम होता ही रहता है।

ज्ञान-प्रधान मनुष्य, उपयुक्त प्रेरणा और सामग्री होने पर, दार्शनिक विचार की ओर झुकते हैं; इच्छा-प्रधान, भक्ति और उपासना की ओर; क्रिया-प्रधान, व्यावहारिक सांसारिक कर्म अथवा (पारलौकिक निष्ठा अधिक होने पर) कर्मकांड की ओर, होम, हवन, यज्ञ आदि 'इष्ट', और वापी, कूप, तटाक आदि के सार्वजनिक लाभ के लिये निर्माण 'आपूर्त्त', की ओर। सज्ज्ञान, सच्छ्रद्धा, सद्धर्म में, सज्जीवन में, तीनों की मात्रा, यथास्थान यथासमय, तुल्य रूप से होनी चाहिये; और आदर्श महापुरुषों के जीवन में होती भी हैं। पर प्रायः यही देखा जाता है, पूर्व में भी, पच्छिम में भी, कि अपने-अपने इष्ट, अपनी-अपनी चाल, की प्रशंसा के साथ-साथ, दूसरों के इष्ट और चाल की निन्दा भी की जाती है। एक ओर राग है तो दूसरी ओर द्वेष भी। इसी से ज्ञान मार्ग, भक्ति मार्ग, और कर्म मार्ग में, सौमनस्य के स्थान पर, बहुधा वैमनस्य देख पड़ता है, और फ़लसफ़ी दार्शनिक में, और श्रद्धालु, मोमिन, "फ़ेथफुल बिलीवर"[२] मे, अन बन हो रहा करती है, एक दूसरे को बुरा ही कहते रहते हैं; और दुनियांदार कर्मठ आदमी दोनो को बेवकूफ़ समझते हैं। पच्छिम मे, प्लेटो आदि के समय से ग्रीस मे भी, रोम मे भी, ईसा के पूर्व के धर्मों के देवी देवों मे और उनके पुजारियों मे अति श्रद्धा करने वालों के विरुद्ध, तथा ईसा के बाद रोमन कैथलिक चर्च[३] के, श्रद्धांधता और मूर्खता के पोषक, धर्माधिकारियों के विरुद्ध, विचारशील दार्शनिक बुद्धि वाले, हर ज़माने मे, कुछ थोड़े से, लिखते-बोलते आये; पर प्रायः बहुत दबी ज़बान से। क्योंकि उपासनात्मक और कर्मकांडात्मक धर्मों के अधिकारियों पुजारियों की चतुरता और श्रद्धालुओ की मूर्खता का ज़ोर बहुत रहा।

---

[१] action reaction

[२] Faithful believer.

[३] Roman Catholic Church.

पर सोलहवीं शताब्दी के आरंभ से, जब से मार्टिन लूथर ने, जर्मनी मे 'पोपों' के (--रोमन कैथलिक संप्रदाय के 'जगद्-गुरु' महाशय 'पोप' कहलाते हैं, मुसल्मानो के 'जगद्-गुरु' 'खलीफ़ा', और हिंदुओं मे तो पंथ-पंथ के अलग-अलग बहुत से 'जगद्-गुरु' 'शंकराचार्य' आदि हैं—) विरुद्ध झंडा खडा किया, तब से, बुद्धिस्वातंत्र्य, पच्छिम मे धर्मनीतिमे भी और राजनीति मे भी, बढ़ता गया; और 'रिलिजन' और 'सायंस' का विरोध अधिकाधिक उग्र होता गया; जैसा पहिले कहा। यदि एक ओर श्रद्धाजड़ता थी, तो दूसरी ओर अश्रद्धाजड़ता भी देख पड़ने लगी। जैसे कृष्ण और बाणासुर के संग्राम मे, माहेश्वर ज्वर का प्रतिरोध वैष्णव ज्वर ने किया, वैसे अत्यास्तिक्य का वारण अतिनास्तिक्य ने यूरोप में किया। तब से पच्छिम मे दर्शन और धर्म का पार्थक्य हो गया। ईसा-युग के आदि काल में और मध्यकाल मे भी, पादरियों ने[१] दर्शन का अभ्यास किया, दर्शन के अच्छे-अच्छे ग्रन्थ लिखे, और उनसे अपने ईसा-धर्म का पोषण किया; पर अब फ़लसफ़ा की प्रेरक अधिकांश "इंटेलेकचुअल क्युरिआसिटी" ही रह गई।

"फ़िलासोफ़ी" शब्द का यौगिक अर्थ ही जिज्ञासा, ज्ञान की इच्छा, ज्ञातुम् इच्छा, है, ग्रीक भाषा के दो शब्दों को, "फ़ाइलोस" प्रेम, और, "सोफ़िया" विद्या, वैदुष्य, "विज़डम"[२] को, मिला कर यह अंगरेजी लफ़्ज़ बनाया गया है। इसी यौगिक अर्थ के अनुसार, इन शास्त्रों को जिन को अब आधिभौतिक विज्ञान, "फ़िज़िकल सायंसेज़" कहते हैं, उन को पहिले "नैचुरल फ़िलासोफ़ी"[३] कहा करते थे। तो फ़िलासोफ़ी मानो बुद्धि की खुजली मिटाने का एक उपाय, एक प्रकार, रह गई। सायंस की एक कोटि फ़िलासोफ़ी को छूती है, दूसरी कोटि नई-नई ईजादें करके व्यवहारिक कर्म को सहायता देती है। रहा उपासनात्मक धर्म, परलोक बनाने वाली बात; जिस को परलोक में विश्वास हो, और उस को बनाने के उपाय की खोज हो, उस के लिए यह हृदय से सम्बन्ध रखने वाली बात दोनों से अलग पड़ गई।

इस प्रकार से ये तीनों अलग तो हो गये, पर नतीजा यह हुआ कि तीनो, दर्शन-उपासना-व्यवहार, ज्ञान-भक्ति-कर्म, खंडित हो रहे हैं; और सिर, हृदय, हाथ-पैर मे, "हेड-हार्ट-लिम्बज़"[४] मे, नित्य झगड़ा हुआ करता है। पर यह

---

[१] The Patristic philosophers, the Fathers of the Church; the Scholastic philosophers, the Schoolmen.

[२] Philosophy, philos, sophia, wisdom.

[३] Physical sciences, natural philosophy.

[४] Head, heart, limbs,

झगड़ा तो नितांत अस्वाभाविक, प्रकृति के विरुद्ध, है। मनुष्य के शरीर में सिर का, हृदय का, हाथ पैर का, घनिष्ठ सम्बन्ध है; एक से दूसरा अलग नहीं किया जा सकता; वैसे ही, उसके चित्त में, ज्ञान, इच्छा, क्रिया का घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारतवर्ष की उत्कृष्ट अवस्था में, जब यहां की शिष्टता सभ्यता सर्वांगसम्पन्न थी, तब प्रायः ऐसा तीव्र संघर्ष नहीं था; ज्ञान, भक्ति, कर्म का समन्वय और समाहार जाना माना और बर्ता जाता था; जिसका प्रमाण, थोड़े में, गीता है; अथवा उसका भी संक्षेप चाहिये तो उसी के दो श्लोक पर्याप्त हैं, यथा,

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिंत्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥
संनियम्येंद्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवंति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥

कूटस्थ अक्षर अव्यक्त परम-आत्मा की पर्युपासना अर्थात् अन्वेषण—यह दर्शन का, ज्ञान का, अंश है। मामेव प्राप्नुवंति—मुझको, दिव्य उपाधि से उपहित, विशेष महा-पुरुष को, अति उत्कृष्ट ईश्वरत्वप्राप्त जीव को सौर जगत् के ईश-सूत्रात्मा-विराडात्मक नियंता को, शिव-विष्णु-ब्रह्मा को, पाना—यह भक्ति का अंश है। सर्वभूतहिते रताः—सब प्राणियों का यथाशक्ति हित करना—यह कर्म का अंश है। यदि और भी संक्षिप्तरूप से यही भाव देखना हो, तो गीता ही के श्लोक के एक पाद से दिखाया है—माम् अनुस्मर युध्य च। माम् (स्मर), मुझ अर्थात् परमात्मा को याद करो—ज्ञान; अनु-स्मर, मेरे पीछे पीछे चलने की इच्छा से, सेवा भाव से—भक्ति; युध्य च, पाप और पापियों से यथाशक्ति युद्ध करो—कर्म। भागवत आदि पुराणों में भी तीनों का समन्वय स्थान-स्थान पर किया है; पर सब से उत्तम और विस्तीर्ण प्रमाण तो मनुस्मृति है, जिस के ऊपर भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता प्रतिष्ठित है, और जो स्वयं अध्यात्मशास्त्र, वेदांत, के ऊपर प्रतिष्ठित है। मनु की प्रतिज्ञा है,

ध्यानिकं सर्वमेवैतद् यदेतदभिशब्दितम् ।
न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते ॥
सैनापत्यं च राज्यं च दंडनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं वा वेदशास्त्रविदर्हति ॥

अर्थात्, एतत् शब्द से, इदं, 'यह' शब्द से, जिस समग्र दृश्य-जात का, जगत् का, अभिधान होता है, वह सब ध्यानिक है; परमात्मा के ध्यान से, संकल्प से, ही बना है; इस लिए, ध्यान के शास्त्र को, अध्यात्म शास्त्र, अंतःकरण शास्त्र, योग शास्त्र, आत्म विद्या को, जो नहीं जानता है वह किसी भी क्रिया को

उचित रीति से नहीं कर सकेगा, और उसके उचित फल को नहीं पा सकेगा; उसकी सब क्रिया अव्यवस्थित अमर्यादित होंगी। इस लिए सांसारिक व्यवहारों का निरीक्षण, उपदर्शन, नियमन, सेनापतित्व, दंडनायकत्व, राजत्व, अथ किं, सर्वलोकाधिपत्य भी, वेदशास्त्र के, वेदांत के, जानने वाले को ही सौंपा जाना चाहिए। जो मनुष्य की, पुरुष की, प्रकृति के तत्त्व को नहीं जानता, उसकी उत्पत्ति, स्थिति, विनाश का हाल नहीं जानता, वह उसके जीवन-संबंधी व्यवहारों का नियमन व्यवस्थापन क्या कर सकता है?

यह भाव प्राचीन काल मे यहां था। पर यहां भी, सनातन-आर्य-वैदिक-मानव धर्म का बुद्धदेव ने जो संस्करण किया, उस के प्रभाव के क्रमशः लुप्त हो जाने पर, जो भारतीय सभ्यता का रूप बनता और बदलता रहा, उसमें कुछ वैसो ही सी दशा दर्शन और उपासना और व्यवहार की हुई जैसी पच्छिम मे; यद्यपि उतना पार्थक्य नहीं हुआ जैसा वहां। एक तो कारण यह होगा कि आधिभौतिक विज्ञान की वैसी समृद्धि यहां नहीं हुई जैसी वहां। इस लिये यहां, थोड़े दिनों पहिले तक, कुछ कुछ वह हाल था जो मध्ययुगीन यूरोप का था, जब वहां "स्कूलमेन" और "स्कोलास्टिसिज्म"[1] के दर्शनों का प्रताप था। इधर कुछ दिनों से, भारतवर्ष में भी, उस वर्ग मे जिसने पाश्चात्य भाषा और शास्त्रों का अधिक अध्ययन किया है, इस पार्थक्य की वैसी ही दशा हो रही है जैसी पच्छिम में।

किंतु यह दशा श्लाघनीय और वांछनीय नहीं है। प्रकृति के विरुद्ध है, रोगवत्, है चिकित्सा चाहती है, पूर्व में भी और पच्छिम में भी। ज्ञान मार्ग, भक्ति मार्ग, कर्म मार्ग का, ज्ञान-विज्ञान अर्थात् फिलासोफी-सांयस का और भक्ति-उपासना अर्थात् रिलिजन का और सांसारिक व्यवहार अर्थात् "लाइफ इन दी वर्ल्ड"[2] का समन्वय, विरोधपरिहार, करना परम आवश्यक है। दिल तो कहता है कि किसी सगुण साकार इष्ट देव की पूजा करो जो आपत्काल मे सहाय हो; दिमाग़ कहता है कि ऐसा देव हो ही नहीं सकता; हाथ पैर कहते हैं कि खाओ, पीओ, दुनियादारी से मतलब साधो, और मुसीबत आवे, मौत आवे, तो मर जाओ—ऐसी हालत मे जिंदगी मे क्या चैन हो सकता है? इस लिए तीनो का मेल करना ज़रूरी है। वह दर्शन सच्चा नहीं है, कच्चा है, जो अन्य दोनों से मेल मुहब्बत न कर सके, और उनको भी अपने साथ एक रास्ते पर न चला सके। दर्शन का अर्थ आंख है, देखना

[1] Schoolmen ; Scholasticism.

[2] Life in the world; the day to day life of the world.

है। सब रास्तों को देख कर निर्णय करना, कि किस पर चलने से, किस तरह चलने से, क्या सामग्री साथ ले चलने से, हाथ और पैर, बिना खौफ खतरे के, बिना भय और क्लेश के, दिल को, सारे शरीर को, मनुष्य को, जो आंख का भी, हृदय का भी, हाथ पैर का भी मालिक है, उसके अभीष्ट लक्ष्य से मिला देंगे, मंज़िल मक़सूद तक पहुँचा देंगे यह दर्शन का काम है।

कुतूहल, जिज्ञासा, भी ज्ञान की इच्छा है; इस इच्छा का अभिप्राय भी यही है कि इस बात को जान कर हम भी समय-समय पर ऐसा-ऐसा काम कर सकें, इस ज्ञान से काम ले सकें। "नालेज इज़ पावर"[१]। पच्छिम में भी अब यह प्राचीन भाव फिर ज़ोर कर रहा है कि "ऐज़ दी फ़िलासोफ़ी आफ़ लाइफ़, एज़ दी औटलुक अपान लाइफ़, सो दी लाइफ़", "आइडीयल्स आर दी ग्रेटेस्ट मूविङ्ग फ़ोर्सेस आफ़ नेशन्स," "एवेरी मूवमेंट हैज़ ए फ़िलासोफ़ी बिहाइंड इट", "दी साउंडर दो[२] फ़िलासोफ़ी दीं मोर एफेक्टिव दी मूवमेंट," इत्यादि। ग्रीस देश की पुरानी कहावत है, "मनुष्य के जीवन की नेत्री फ़िलासोफ़ी है"[३]। प्रत्यक्ष है कि कहना और करना, क़ौल व फ़ेल, "वर्ड और डीड," एक दूसरे से बंधे हैं, एक दूसरे की कसौटी हैं। "प्रैक्टिस" की, कृति की, जाँच, "प्रोफ़ेशन"[४] से, वाणी से, ज्ञान से, विश्वास से; "प्रोफ़ेशन" की, विश्वास की, जांच "प्रैक्टिस" से, कृति से। यदि कथनी के अनुकूल करनी, और करनी के अनुकूल कथनी, न हो, तो जानना कि कथनी झूठी है, बनावटी है। असली विश्वास, जो सब से गहिरा, मनुष्य के हृदय के भीतर धँसा रहता है, कृति उसी के अनुसार होती है, मुँह से कहना चाहे जो कुछ हो। बुद्धि भी, हृदय भी, कृति भी, तीनों एक साथ जिस तथ्य की साक्षी दें, वही तथ्य और सत्य है; और उसी को पाया हुआ, पहुंचा हुआ, जीव, तथा-गत रसीदा ऋषि (ऋच्छति, गच्छति, प्राप्नोति इति) है।

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्॥

इस प्रसग में, महात्मा शब्द का अर्थ है, वह जीव जिस को ज्ञान सच्चा अपरोक्ष हो गया है, जिस के दिल दिमाग़ हाथ-पैर मे विद्या एकरस होकर

---

[१] Knowledge is power.

[२] As the philosophy of life, as the outlook upon life, so the life; Ideals are the greatest moving forces of nations; Every movement has a philosophy behind it; The sounder the philosophy the more effective the movement; etc.

[३] *Philosophia biou kubernetes.*

[४] Word and deed; practice; profession.

भीन गई है। तथा दुरात्मा शब्द का अर्थ वह जीव, जिसको ऐसा अपरोक्ष अनुभव नहीं हुआ है, जिस का ज्ञान अभी परोक्ष है, शाब्दिक है, झूठा है। जो अविद्या के वश मे है, जिस के ख़ुद में अभी ख़ुदी गालिब है और ख़ुदा मग़लूब है।

धर्म-मज़हब-रिलिजन का विश्वास, अन्य विश्वासों की अपेक्षा से, सच्चा और गहिरा इसीलिये समझा जाता है, कि मनुष्य का हृदय उस में लगा है, और उस के लिए वह सब कुछ करने, जान तक दे देने, के लिए तैयार होता है; क्योंकि उस को हृदय से दृढ़ विश्वास है, कि उस धर्म से उस को, इस लोक में नहीं तो परलोक में, अवश्य सुख मिलेगा। जैसा पहिले कहा, मौत के भय से, मौत के दुःख के छूटने के उपाय की खोज से, धर्म उत्पन्न होते हैं। यह बात "फ़िलासोफ़ी आफ रिलीजन" अथवा "सायंस आफ रिलिजन"[1] की खोज करने वाले पच्छिम के विद्वान् भी मानते व कहते हैं। जिस को यह भय नहीं उस को धर्मादिक की आवश्यकता नहीं।

यस्तु मूढ़तमो लोके, यश्च बुद्धेः परं गतः ।
द्वाविमौ सुखमेधेते, क्लिश्यत्यंतरितो जनः ॥

जिस को डर का पूर्वापरविचारात्मक ध्यान ही नहीं हुआ, या जो डर के पार पहुँच गया, हैवान है या इन्सानुल-कामिल है, पशु है या पशुपति है— ये दोनो सुखी हैं। बीच में जो पड़ा है वही दुःखी है। जिस को यह निश्चय हो गया कि मै अमर हूँ, किसी दूसरे के वश मे नहीं, सब सुख-दुःख अपने ही किये से, अपनी ही लीला क्रीड़ा के अनुसार भोगता हूँ, उसको फिर बाहरी किसी धर्म की ज़रूरत नहीं रह जाती, सब धर्मका तत्त्व, मूल, उसके भीतर आ जाता है।

जब मनुष्य देखता है कि शरीर को तो मौत से छुटकारा नहीं ही हो सकता; जिस वस्तु का आरंभ होता है उस का अंत भी होता ही है; तब वह जीव मे, रूह मे, ईश्वर मे, रूहुल् आ ़म मे मन अटकाता है, कि इस लोक में नहीं तो परलोक में अजर अमर होंगे।

कुछ लोग चाहते हैं कि मज़हब को दुनियाँ से उठा दें[2]। कई तो नेकनीयती से, और सहीह, एतबार करते हैं, कि जो वस्तु धर्मों मज़हबों के नाम से दुनियां में फैली है, उस से मनुष्यों को बड़ी-बड़ी हानियां पहुंची हैं, और उन की सद्‌बुद्धि के विकास मे, सच्चरित्रता की उन्नति मे, परस्पर स्नेह प्रीति के प्रसार मे, भारी विघ्न हुए हैं; और इस की उलटी बातों की वृद्धि

[1] Philosophy of Religion; Science of Religion.

[2] यथा रूस देश के वर्तमान बोल्शेविक शासक।

हुई है; इसलिए वह समझते हैं, और चाहते और यत्न करते हैं, कि मज़हब, धर्म, रिलिजन, दुनियां से ग़ायब हो जाय। पर वे गहिरी निगाह से नहीं देखते, कि ये सब दुष्फल, सद्धर्म के नहीं, बल्कि धर्माभास और मिथ्या धर्म के हैं; धर्मों के असली तात्त्विक अंश के नहीं है, प्रत्युत उस मिथ्या अंश के हैं, जिस को मतलबी स्वार्थी पुजारियों, मज़हब का पेशा करने वालों, ने उन मे मिला दिया है। कोई लोग, जो खुद बदनीयत और बदकार होकर दूसरों को भी बिगाड़ने की नीयत से ही, उनके नज़दीक धर्म की हँसी करते हैं, और उन को धर्म से अलग करना चाहते हैं, उनके विषय मे तो अधिक कहने का प्रयोजन नहीं। प्रथम वर्ग के लोगों को चाहिये, कि पहिले मौत को, या मौत के खौफ़ को, दुनियां से ग़ायब कर दें; मज़हब आप से ही लुप्त हो जायगा। जब तक यह नहीं कर सकते तब तक उन को धर्म के लुप्त करने में कामयाबी नहीं हो सकती। अंग्रेज़ कवि कोलरिज ने, बहुत सरस शब्दों मे, अखंडनीय युक्ति कही है, जिसका आशय यह है,

नास्तिक कौन वस्तु ऐसी दै सकिहै,
हिय की व्यथा तिहारी जो परिहरिहै।
कहत ईश मेरे समीप तू आवै—
"नहिं दुख अस जासों न शांति तू पावै।[1]
जहँ कहुँ दुखी होइ तू आँसु बहावै,
मेरौ मंदिर खोजि वहाँ तू धावै।
टुटौ हिय अपनो तू मोहिं दिखावै,
वाके जोरन कौ उपाय मोसों तू पावै"।
जिन सब आशा खोइ दई तिनकी वह आसा,
अँधियारे भरमत जन की वह ज्योति प्रकासा।
नहिं कोउ अन्य आसरो, करु वाही कौ ध्याना,
सब-दुख-मेटनहार वही है इक भगवाना। [1]

भारतवर्ष के संतों ने भी ऐसे ही कोमल करुणामय भावों का, बहुत मधुर शब्दों मे भजन किया है, यथा—

दीननाथ! दीनबंधु! मेरी सुधि लीजियै!
भाई नाहिं, बंधु नाहिं, परिजन परिवार नाहिं,
ऐसौ कोउ मीत नाहिं, जासौं कहौं—दीजियै!
खेती नाहिं, बारी नाहिं, बनिज ब्यापार नाहिं,
राज नाहिं, विद्या नाहिं, जाके बल जीजियै!
हे रे मन! धीरज धरु, छाँड़ि कै पराई आस,

---

[1] Come, ye disconsolate! where'er ye languish,
Come to God's altar, fervently here kneel,

जाही विधि राम राखै वाही में रीझियै !
दीननाथ ! दीनबन्धु ! मेरी सुधि लीजियै ।

जिनके मन में प्रभु भक्ति बसै तिन साधन और किये न किये !
भव भीति मिटाई सबै तिनके नित नूतन उपजत आस हिये !

जब तक बच्चे की हालत में है, तब तक माता पिता का सहारा ढूंढना ही पड़ेगा । धीरे-धीरे, अपने पैरों पर खड़ा हो जायगा । एक दिन ऐसा आवेगा जब दूसरों को सहारा दे सकेगा, अपने बच्चों के लिए आप ईश्वर हो जायगा । प्रत्येक जीव को भक्ति मार्ग मे से गुजरना ही होगा, और बाद मे, ज्ञान मार्ग में पहुँचकर, अपने पैरों पर खड़ा भी होना होगा, और, बालक भाव को छोड़कर, सेवक भाव की भक्ति भी बनाये रहना ही होगा ।

देहबुद्ध्या तु दासोऽहं, जीवबुद्ध्या त्वदंशकः ।
आत्मबुद्ध्या त्वमेवाऽहं, इति भक्तिस्त्रिधा स्थिता ॥

देह की दृष्टि से, ईश्वर का दास हूँ; जीव की दृष्टि से, इष्ट देव भी मै भी, दोनों ही परमात्मा के अंश हैं; आत्मा की दृष्टि से, मैं और परमात्मा एक ही हैं।

धर्म की ओर से जन समुदाय को अरुचि, घृणा, क्रोध, और विरोधिता भी होती है, जब कुछ लोग, उस को अपनी जीविका और भोग विलास और दुष्ट कामनाओं की पूर्त्ति का उपाय बनाने के लिये, उस मे मिथ्या विश्वासों, दुष्ट भावों, और घोर दुराचारों और कुरीतियों को मिला देते हैं, और इन्हीं को धर्म का मुख्य रूप बता कर, सरलहृदय जनता के साथ, विश्वासघात करने लगते हैं, रक्षक के स्थान पर भक्षक हो जाते हैं। मानव जाति के इतिहास मे, 'धर्म' के नाम से, ऐसी ऐसी दारुण हत्या, बालकों की, स्त्रियों कीं, एशिया मे, यूरोप मे, अमेरिका मे, आफ्रिका मे, की गई है, आर की जा रही हैं, जिनसे अधिक घोर यम यातना भी नहीं हो सकती।

Here bring your wounded hearts, here bring your anguish,
Earth has no sorrow that Heaven cannot heal.
Joy of the desolate, Light of the straying,
Hope, when all others die, fadeless and pure,
Here speaks the Comforter, in God's name saying,
"Earth has no sorrow that Heaven cannot heal."
Go, ask the infidel what boon he brings us,
What charm for aching hearts can he reveal,
Sweet as the heavenly promise that Hope sings us,
"Earth has no sorrow that Heaven cannot heal."

यस्यांके शिर आधाय जनः स्वपिति निर्भयः ।
स एव तच्छिरश्छिंद्यात् किं नु घोरमतः परम् ॥

जिस की गोद में सिर रख कर मनुष्य सोता है वही सिर काट ले—इस से अधिक घोर पाप क्या हो सकता है ? तिस पर भी लोक किसी न किसी धर्म का आसरा चाहते और खोजते ही हैं। एक से उद्विग्न हो कर उस को छोड़ते हैं, तो किसी दूसरे को ओढ़ते हैं; क्योंकि भीतर से अमरता चाहते हैं। जो उनके सच्चे शुभचिंतक हैं, उन्होंने हर ज़माने मे, जनता को वह रास्ता दिखाने का जतन किया है जिससे उन को अमृत लाभ हो, आबि-हयात मिलै, यानी अपनी अमरता और स्वाधीनता का निश्चय हो जाय।

धर्म की परा काष्ठा—दर्शन

अचम्भा तो यह है कि मौत का ख़ौफ़ तभी ग़ायब होगा जब मज़हब मुकम्मल होगा, और इन्सान कामिल होगा; और तभी, एक मानी में कह सकते हैं कि, मज़हब भी ग़ायब हो जायगा; क्योंकि ख़ुदी ग़ायब हो जायगी और सिर्फ़ ख़ुदा रह जायगा, और ख़ुदा को दूसरे के बताये मज़हब की क्या ज़रूरत ? सब अच्छे से अच्छे, ऊँचे से ऊँचे, धर्म तो आप उस के भीतर भरे हैं।

निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतो को विधिः को निषेधः ।

जिसने पहचान लिया कि परमात्मा तीनों गुणों की हरकतों से, विकारों से, परे है, उस को दूसरे के कहे विधि निषेधों की, क़ायदे क़ानूनों की, आवश्यकता नहीं, वह अपने भीतर से सब उपयुक्त विधि निषेधों को पाता रहता है।

दुःख की निवृत्ति की खोज से ही धर्म उत्पन्न होते हैं, और दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति का एक मात्र उपाय यही दर्शन है, परम-ईश्वर का दर्शन, परमात्म-दर्शन, ब्रह्म-लाभ, ख़ुदा का ख़ुद में नमूद हो जाना और ख़ुदी का ख़ुद से ग़ायब हो जाना। यों ही "हेड" और "हार्ट" और "लिम्बज़" का, दिल, दिमाग़, और हाथ पैर का, ज्ञान-इच्छा-क्रिया का, झगड़ा मिट जाता है, और "इन्टेलेकचुअल, (थियोरेटिकल)—इमोशनल—ऐकशनल (प्रैकटिकल) इंटरेस्टस", तीनों का समाहार हो जाता है। यों ही सिद्ध होता है कि धर्म-मज़हब-रिलिजन की परा काष्ठा का ही नाम दर्शन है। परा काष्ठा इस लिए कि जैसा पहिले कहा, जो पदार्थ आज काल धर्म, मज़हब, रिलिजन के नाम से प्रसिद्ध हैं, उनसे यदि हृदय को संतोष होता है तो मस्तिष्क को प्रायः नहीं होता, और सांसारिक व्यवहार दोनों से प्रतिकूल पड़ता है; और

दर्शन से, यदि सच्चा दर्शन है, तो सब का सामंजस्य, सब की परस्पर अनुकूलता, सब की तुष्टि, पुष्टि, पूर्ति, और सौमनस्य हो जाना चाहिये।

आत्म-दर्शन ही परम धर्म

जैसा मनु और याज्ञवल्क्य ने कहा है,

सर्वेषामापि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥ (मनु, अ० १२)

इज्या-चार-दमा-हिंसा-यज्ञ-स्वाध्यायकर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्॥ (याज्ञवल्क्य, अ० १)

सब धर्मों का परम अर्थ यही है कि आत्म-दर्शन हो

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यंते सर्वसंशयाः।
क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ (मुंडक उपनिषत्)

आत्मा के दर्शन होने पर, परमात्मा का स्वरूप ठीक-ठीक विदित हो जाने पर, हृदय की, बहुत दिनों की पड़ी हुई, सब गांठें, काम, क्रोध, लोभ आदि की ग्रंथियां,[1] कट जाती हैं, बुद्धि के सब असंख्य संशय उच्छिन्न हो जाते हैं, नये सांसारिक बंधन बनाने वाले सब स्वार्थी कर्म क्षीण हो जाते हैं, क्योंकि भेद-बुद्धि ही, पृथक्-जीवन की वासना ही, मै अलग और अन्य जीव अलग, मन् दीगरम् तू दीगरी, यह भाव ही, मिट जाता है, सभी अपने ही हो जाते हैं, आत्मा ही में मग्न हो जाते हैं।

यही भाव सूफ़ियों ने भी कहा है,

गौहरे जुज़ ख़ुद-शिनासी नीस्त दर बहरे वुजूद।
मा बगिर्दे ख़्वेश मी गर्देम चूं गिर्दाबहा॥
रहे इश्क जुज़ पेच दर पेच नीस्त।
बरे आरिफ़ां जुज़ ख़ुदा हेच नीस्त॥
चश्म बन्दो गोश बन्दो लब बि बन्द।
गर न बीनी रूयि हक़ बर मा बिख़ंद॥

---

[1] इन हृदय की ग्रंथियों को पच्छिम में "साइको-ऐनालिटिक" (pycho-analytic school) सम्प्रदाय के विद्वानों और गवेषकों ने "काम्प्लेक्स" (complex) के नाम से पहिचाना है। पर वे, विशेष-विशेष ग्रंथियों का निर्मूलन, उनके विशेष-विशेष स्वरूप और कारण के ज्ञान के द्वारा, करने का यत्न करते हैं; और आत्म-विद्या सब अशेष ग्रंथियों का एक साथ निर्मूलन आत्मज्ञान से करती है।

अर्थात्, भवसागर में आत्म-ज्ञान के सिवा और कोई मोती नहीं है। जैसे पानी का भँवर अपने ही चारो तरफ फिरता है, वैसे ही हम सब अपनी ही, अपने आत्मा की ही, परिक्रमा करते रहते हैं। प्रेम की राह पेंच के भीतर पेंच के सिवा और कुछ नहीं है; ज्ञानी के लिये परमात्मा के सिवा और कुछ कहीं भी नहीं है। आँख, कान, मुंह, बंद करो, परमात्मा अवश्य देख पड़ेगा।

योग सूत्र के शब्दों में,

चित्तवृत्तिनिरोधे द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

अर्थात्, चित्त की सब वृत्तियों का निरोध कर दिया जाता है, जब ज्ञानात्मक-इच्छात्मक-क्रियात्मक सब वृत्तियां रोक दी जाती हैं, जब मन सब तरफ़ से हट जाता है, तब द्रष्टा, 'देखनेवाला', सब संसार का साक्षी, आत्मा, अपने स्वरूप में, "मैं" मे, अवस्थित हो जाता है; मैं, परमात्मा, सब संसार का साक्षी, सब का धारक, व्यापक, सब से अन्य, हूँ—ऐसी अवस्था, ऐसा ज्ञान, ऐसा भाव उदय होता है।

पैग़म्बर मुहम्मद ने भी कहा है,

मन अरफ़ा नफ़सहू फ़क़द अरफ़ा रब्बहू।

अर्थात् आत्मा का, अपने का, ज्ञान और ईश्वर का ज्ञान एक ही चीज़ है। जिसने अपने को जाना उसने ख़ुदा को जाना।

ख़ुद-शिनासी, इर्फ़ानि ख़ुदा, हक़-बीनी, दीदार, ब्रह्मज्ञान, आत्म-दर्शन, ब्रह्मलाभ, आत्मलाभ, "दी विझन आफ़ गाड," "सेल्फ़-नालेज"—यह सब पर्याय हैं, एक ही पदार्थ के विविध नाम हैं, जिसी पदार्थ से ऐकांतिक आत्यंतिक दुःख-निवृत्ति होती है, और इंतिहाई दवामी लाज़वाल सुख-शांति का लाभ होता है।

यही दर्शन का और दर्शनशास्त्र का मुख्य प्रयोजन है।

ॐ

अध्याय २

दर्शन का गौण प्रयोजन

दर्शन के प्रधान प्रयोजन का वर्णन किया गया। उसका गुणरूप, गुणभूत, गौण, बड़ा गौरवशाली, और भी प्रयोजन है।

राजविद्या का अर्थ और उसकी उत्पत्ति की कथा

गीता का उपाख्यान किसको नहीं मालूम ? अर्जुन को जब किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता, दीनता, विषण्णता ने घेरा, तब कृष्ण ने उस बेचैनी को आत्मविद्या के उपदेश से दूर किया। ब्रह्मचर्य की परा काष्ठा से, आत्मनिग्रह, आत्मवशता, से, दैह्य आत्मा पर भी वशित्व[1] पाये हुये, मृत्यु पर भी विजय पाये हुए, इच्छा-मृत्यु, भीष्म ने, योग से शरीर छोड़ते हुए, जो कृष्ण की स्तुति की, उसमें इसको कहा है।

> व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य स्वजनवधाद्विमुखस्य दोषबुद्ध्या।
> कुमतिमहरदात्मविद्यया यश्चरणरतिः परमस्य तस्य मेऽस्तु ॥

शत्रुओं की सेना मे आगे बंधु बांधवों को देख, उनके वध को महापातक मान, विषण्ण हुए अर्जुन की कुमति को जिसने आत्मविद्या से हटाया, उस हरि की सुंदर मूर्ति मेरे मन में, स्नेह से आवृत, सदा बसै।

इस आत्मविद्या ही का नाम राजविद्या, राजगुह्य, है। जैसा स्वयं कृष्ण ने अर्जुन से कहा है।

> इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
> ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥
> राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमं।
> प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम् ॥

आत्मविद्या का नाम राजविद्या क्यों पड़ा, इस विषय में, आजकाल, कुछ विद्वान्, छिछली सरसरी दृष्टि से, यों तर्क करते हैं कि यह विद्या पहिले

---

[1] Biological autonomy। शास्त्रीय सिद्धांत यह है कि नया शरीर, नया प्राण, उत्पन्न करने वाली, "शुक्रं ब्रह्म सनातनं" रूप, शक्ति को जो अपने शरीर से अवकीर्ण न होने दे, उस प्राण शक्ति को उसी शरीर के ही पोषण में परिणत करता रहे, तो बहुत काल तक उस शरीर को स्थिर रख सकता है, जब तक वह स्वयं उस शरीर के धारण से खिन्न न हो जाय। आज काल पच्छिम के विद्वानों ने जीर्ण-वृद्ध मनुष्य के शरीर को पुनः युवा बना देने का उपाय यह निकाला है कि बानर आदि

क्षत्रियों में उदित हुई। पर गहिरी दृष्टि से देखने से इस प्रकार के विचार, जात्यभिमान, वर्ग-प्रशंसिता, आदि ओछे भावों से प्रेरित जान पड़ते हैं; और योग वासिष्ठ में जो इसके उत्पत्ति की कथा कही है वही मन में सच्ची होकर बैठती है। कथा यह है।

विश्वामित्र दशरथ के पास आये। "दुर्जन लोग (राक्षस) हमारे ऋषिकुल, गुरुकुल, ब्रह्माश्रम (विद्यापीठ) के सत्कार्यों में विघ्न करते हैं। यज्ञ का अर्थ है स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, द्रव्ययज्ञ आदि, मनुष्यों के स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के, देह और बुद्धि के, संस्कार परिष्कार करने वाले, और इस संस्कार के द्वारा इहलोक परलोक दोनों को सुधारने वाले, सब परोपकारी कार्य। राम जी को आज्ञा कीजिये कि मेरे साथ चलें और इन दुष्टों का दमन करें"। "राम ने तो खाना पीना छोड़ रक्खा है, न जाने किस चिंता में पड़ गये हैं, किस मोह से मूढ़ हैं, या कोई रोग से रुग्ण हैं; आप उसका उपाय कीजिये, और ले जाइये"। राम जी बुलाये गये। ऋषि ने पूछा। राम जी ने कहा। बहुत विस्तार से, बहुत सरस, मधुर, ओजवान्,

---

पशुओं के वृषण (अथवा यदि स्त्री हो तो वानरी आदि के रजःकोष) उसके शरीर में जमा देते हैं। पुराणों में इसकी सूचना इस प्रकार से की है कि इंद्र के अंडकोश जब, परदार-गमन के कारण, ऋषि के शाप से, सहस्राक्षता (अथवा उपदंश रोग) से, गिर गये (या सड़ गये), तब उनके स्थान पर स्वर्ग के वैद्यों ने मेष के वृषण लगा दिये। यह प्रकार राजस, तामस, और पापीयान् है; सात्त्विक नहीं। तो भी, उससे भी यही सिद्ध होता है कि शुक्र धातु के शरीर में बनने और संचित होने से, यौवन अर्थात् प्राण, ओजस्, तरस्, सहस्, तेजस्, महस्, वर्चस् आदि सूक्ष्म शरीर के गुण, शरीर में उत्पन्न होते हैं। सात्त्विक मानवीय शुक्र से, सात्त्विक मानवीय ओजस् आदि सब छः, ब्रह्मचर्य द्वारा; राजस तामस वानरीय शुक्र से, शालाक्य चिकित्सा द्वारा, प्रायः वानरीय ओजस्, तरस्, और सहस्, ही, किन्तु सूक्ष्मतर तेजस्, महस्, वर्चस् नहीं। पश्चिम मे यह आसुरी वाजीकरण-चिकित्सा कुछ वर्षों तक बहुत चली; पर अब अनुभव से निश्चय हो गया है कि उस के परिणाम बहुत बुरे होते हैं; इस से इस का प्रचार कम होता जाता है।

ओजो हि तेजो धातूनां शुक्रांतानां परं स्मृतम्। (वाग्भट)

अंग्रेजी में इस आशय को कहना हो तो स्यात् यों कहा जायगा कि,

The conservation of the normal vital seed and its psychophysical energy in the body, instead of allowing it to escape outside, will prolong the life of that body for an indefinite period, (*i. e.* for much longer than the usual, but not endlessly, of course), till the soul is itself tired-as it will surely become tired in course of time—of holding on to, and daily repeating the experiences, over and over again, of that one body.

वेगवान्, बलवान्, हृदय को पकड़ कर खींच ले जाने वाले, शब्दों में, संसार की अस्थिरता और दुःखमयता, और उसको देखकर अपने चित्त की विकलता और खेदपूर्णता, कहा। बुद्ध को भी, रामजी के बहुत वर्षों पीछे, यही अनुभव हुआ, और उनके पहिले तथा उनके पीछे, सब काल में, अपने अपने समय से, सब जीवों को, मृदुवेदिता और कोमलचित्तता उदय होने पर, वैसा ही होता रहा है और होगा। संक्षेप से, जो रामजी ने कहा वह यह है।

"संसार में जो प्रिय से प्रिय, स्थिर से स्थिर, महान् से महान्, पदार्थ हैं, उनकी अनित्यता को देख कर, सब प्राणियों को दुःखी देख कर, मुझे भारी व्यथा हो गई है, कुछ अच्छा नहीं लगता; यही मन में फिर फिर उठता है कि, ऐसे नश्वर शरीर को, अपने आप खाना पीना बंद करके, छोड़ देना अच्छा है; यम से नित्य नित्य डरते कांपते हुए, इस अपवित्र मलमय रक्त मांस अस्थि के संचय को पकड़े रहने का यत्न करना नहीं अच्छा।"

आपातमात्ररमणेषु सुदुस्तरेषु भोगेषु नाहमलिपक्षतिचंचलेषु ।
ब्रह्मन् रमे मरण-रोग-जरादिभीत्या शाम्याम्यहं परमुपैमि पदं प्रयत्नात् ॥

(योग वासिष्ठ, १-२१-३६)

विश्वामित्र बहुत प्रसन्न हुये। दशरथ से कहा, "राम का यह मोह परम सात्त्विक मोह है। राम को बड़े काम करना है, इस लिये बड़े ज्ञान की इनको आवश्यकता है। नित्य और अनित्य, नश्वर और अनश्वर, फ़ानी और बाक़ी, का विवेक जिसको हो, नश्वर से वैराग्य जिसके हृदय में जागे, नित्य की खोज में जो सर्व प्राण से पड़ जाय, दिल और दिमाग़ दोनों में जिसको इसकी सच्ची लगन लग जाय, उसको महा उदय, अभ्युदय भी निःश्रेयस भी, देने वाला, नित्य पदार्थ का बोध, मिलता ही है।

विवेकवैराग्यवतो बोध एव महोदयः ।

छोटे छोटे कामों में तो कृतार्थता पाने के लिये ऐसी लगन की आवश्यकता होती ही है, फिर अजर, अमर, अनादि, अनंत पदार्थ पाने के लिये क्यों न चाहैगी ? पर जिसको यह धुन लगेगी, कि 'कार्यं वा साधयामि, शरीरं वा पातयामि', वह कृतार्थ हो हीगा। सो राम को यह उत्तम जिज्ञासा उत्पन्न हुई है। इनके कुल के पुरोहित वसिष्ठ जी इसको पूरी करेंगे"। ऐसा विश्वामित्र ने कहा।

तब वसिष्ठ ने आरंभ किया, और आदि में ही कहा कि इस जिज्ञासा को पूरी करने वाली ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या, का नाम राजविद्या, राजगुह्य, भी है। और इसके विवरण के लिये समाजशास्त्र (सोसियालोजी)[1] की,

---

[1] Sociology.

जो भारतवर्ष के पुराण-इतिहास का एक अंग है, कुछ मूल बातों की चर्चा कर दी। मानव इतिहास के आदि काल में मनुष्य परस्पर मेल मुहब्बत से, कापोतन्याय से,[१] रहते थे। इस काल को सत्ययुग[२] का नाम दिया जाता है, क्योंकि मनुष्यों को प्रायः असत्य बोलने के योग्य चपल बुद्धि ही न थी, सीधे सादे होते थे। इसको कृतयुग भी कहते हैं, क्योंकि वृद्ध कुलपति, जातिपति, प्रजापति, [३] नेता, जो कह देते थे उसको सब लोग बिना पूछ पाछ, बिना हुज्जत बहस, कर देते थे। "कृतमेव, न कर्त्तव्यं"; वृद्ध के मुंह से उपदेश आदेश निकला नहीं कि युवा ने कर दिया; अभी करने को बाक़ी है—ऐसी नौबत नहीं आती थी। क्रमशः मनुष्यों में अहंकार, द्वेष, द्रोह, स्पर्धा, ईर्ष्या आदि के भाव बढ़े। परस्पर युद्ध होने लगे। कापोतन्याय के स्थान में मात्स्य-न्याय प्रवृत्त हुआ[४]। शांति के स्थापन के लिये राजा चुने बनाये गये[५]। उनकी बुद्धि, समाज-रक्षा के कार्य में, अक्षम, असमर्थ, क्षुब्ध, किंकर्त्तव्य-विमूढ़, होने लगी। तब ब्रह्मा ने ऋषियों को उत्पन्न किया, आत्मज्ञान से सम्पन्न किया, और राजाओं को शिक्षा के लिये नियुक्त किया। तब आत्मविद्या की शिक्षा पाकर राजा लोग स्थितप्रज्ञ, स्थितधीः, स्थिरबुद्धि, स्थिरमति, हुए, और शांत मन से, प्रजा के द्विविध रक्षण का, अर्थात् पालन और पोषण का, द्विविध उपाय से, अर्थात् दुष्टनिग्रह और शिष्टसंग्रह से[६], अपना कर्त्तव्य करने के योग्य हुए। तभी से यह विद्या राजविद्या कहलाई, क्योंकि विद्याओं की राजा है, और राजाओं की विद्या है, राजाओं के लिये विशेष उपयोगिनी है।

तेषां दैन्यापनोदार्थं सम्यग्दृष्टिक्रमाय च।
ततोऽस्मदादिभिः प्रोक्ता महत्यो ज्ञानदृष्टयः॥
अध्यात्मविद्या तेनेयं पूर्वं राजसु वर्णिता।
तदनु प्रसृता लोके राजविद्येत्युदाहृता॥
राजविद्या राजगुह्यं अध्यात्मज्ञानमुत्तमम्।
ज्ञात्वा राघव राजानः परां निर्दुःखतां गताः॥

(यो० वा, २-११-१६, १७, १८)

---

[१] Idyllic state of nature, "Pigeon-like".

[२] Golden age; Childhood of Mankind.

[३] Patriarch.

[४] Warring state of nature, "Fish-like.

[५] Social contract.

[६] Protection and nurture; Prevention of disorder and Promotion of general welfare. इस विषय का, विस्तार से, "राज-शास्त्र" की लेख श्रेणी में, जो "काशी विद्या पीठ पत्रिका" में प्रकाशित हुई है, लेखक ने प्रतिपादन किया है।

इसका उपयोग—इहलोक, परलोक, उभयलोकातीत, सब के बनाने में

इस रीति से राजविद्या का जो आद्य अवतरण हुआ, उसी का दूसरा उदाहरण, नवीकरण, वा पुनरवतरण, भगवद्गीता का उपाख्यान और उपदेश है। इस परा विद्या को कृष्ण ने गुह्यतम, रहस्यों का रहस्य, राजों का राज, इल्मि सीना, भी कहा, और प्रत्यक्षावगम, अक्षों से, स्थूल इन्द्रियों से, देख पड़ती हुई, भी कहा। जैसा सूफ़ियों ने भी कहा है,

मग्रिबी, आं चि तू अश मी तलबी दर ख़लवत्,
मन् अयां बर सरि कूचः व कू मी बीनम्।

हे पच्छिम वाले, जिस वस्तु को तुम एकांत में ढूंढ़ते हो, उसे मैं हर सड़क और गली में देख रहा हूँ। इसका आशय, आशा है कि, आगे खुलेगा। पच्छिम वाले का सम्बोधन अच्छा है। एक पच्छिम वाले ने अपने हृदय के उद्गार में कहा है, जिस ईश्वर को मैं अपने बाहर सर्वत्र देख रहा हूँ, उसी को अपने भीतर भी देख लूं—यह मेरी सब से उत्कृष्ट इच्छा है।[१] इस प्रकार से, पूर्व पच्छिम के भावों में सादृश्य होते हुए भी, वैदृश्य, दक्षिण वाम का सा, बिम्ब प्रतिबिम्ब का सा, देख पड़ता है।

एक बेर इस विद्या के सिद्धांत हृदय में बैठ जायँ, तो फिर देख पड़ने लगता है कि वे चारो ओर समस्त संसार में व्याप्त हैं। जब "शक्ले इन्सां में ख़ुदा है" यह मालूम हो जावे तब, ज़ाहिर है कि, हर कूचा व कू में वही ख़ुदा देख पड़ेगा जो ख़लवत में तलाश किया जाता है। चैतन्य सर्व-व्यापी है, यह निश्चय जब हो जाय तब उसके नियम, परमाणु में भी और सौर सम्प्रदायों में भी, अणोरणीयान् में भी और महतो महीयान् में भी, एक से काम करते हुए, समदर्शी को देख पड़ेंगे।

ब्रह्मा शब्द का अर्थ

योग वासिष्ठ की कथा में ब्रह्मा का नाम आया। पौराणिक रूपक में यह नाम उस पदार्थ का है जिस को सांख्य में महतत्त्व और बुद्धितत्त्व भी कहते हैं।

हिरण्यगर्भो भगवान् एष बुद्धिरिति स्मृतः।
महान् इति च योगेषु विरिंचिरिति चाप्यजः॥
सांख्ये च पठ्यते शास्त्रे नामभिर्बहुधात्मकः।
विचित्ररूपो विश्वात्मा एकाक्षर इति स्मृतः॥

---

[१] "My highest wish is to find within, the God whom I find every-where without"; Kepler, quoted by J. H. Stirling, on the title-page of his translation of Schwegler's *Handbook of the History of Philosophy*.

वृतं नैकात्मकं येन कृतं त्रैलोक्यमात्मना ।
तथैव बहुरूपत्वाद् विश्वरूप इति स्मृतः ॥
सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं ।
सर्वतः श्रुतिमल् लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

(म० भा०, शांति, अ० ३०८)

मनो महान् मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः ।
प्रज्ञा चितिः स्मृतिः संविद् विपुरं चोच्यते बुधैः ॥

(वायु० पु०, पूर्वार्ध, अ० ४)

अव्यक्तः पावनोऽचिंत्यः सहस्रांशुः हिरण्मयः ।
महानात्मा मतिर्ब्रह्मा विष्णुः शंभुः स्वयंभवः ॥
बुद्धिः प्रज्ञोपलब्धिश्च संवित् ख्यातिर्धृतिः स्मृतिः ।
पर्यायवाचकैः शब्दैर्महानात्मा विभाव्यते ॥

(अनुगीता, अ० २६)

ब्रह्म की, परमात्मा, परम पुरुष, की, प्रकृति का पहिला आविर्भाव ब्रह्मा । जैसे,

स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा धाता वेदनिधिर्विधिः । (अमर कोश)
अपारे ब्रह्मणि ब्रह्मा स्वभाववशतः स्वयं ।
जातः स्पंदभयो नित्यमूर्मिरंबुनिधाविव ॥

(योग वासिष्ठ)

समुद्र में लहर । आत्मा का पहिला रूप बुद्धि, जैसे सूर्य का पहिला रूप ज्योति । इसी पदार्थ को, सूफ़ी इस्तिलाह में, अहद का पहिला इज़हार वाहिदीयत, अक़लि-अव्वल, अक़लि-कुल, रूहि-कुल, लौहि-महफ़ूज़, उम्मुल-किताब, हक़ीक़ति मुहम्मदी, इत्यादि नाम से कहते हैं । ग्रीस देश के दार्शनिकों ने नूस, डीमियर्गास, आदि नाम इसी को दिये हैं । ईसाई मिस्टिक और ग्नास्टिक [२] सम्प्रदाय के विद्वानों ने, होली गोस्ट, क्राइस्टास, ओवर-सोल [३] आदि । पच्छिम के दार्शनिकों ने इसी के विविध पक्षों को ऐनिमा मंडी, यूनिवर्सल रीज़न, दी अनकान्शस, अनकान्शस-विल-ऐण्ड-इमैजिनेशन,

---

[१] Nous, Demiurgos.

[२] Mystics, Gnostics.

[३] Holy Ghost, Christos, Oversoul.

कास्मिक् ऐडियेशन, मैस-माइंड, कलेक्टिव इंटेलिजेन्स, डिफ़्यूज़्ड इंटेलिजेन्स[१], प्रभृति नामों से कहा है।

संस्कृत के कुछ नाम, इसी पदार्थ के, उद्धृत श्लोकों में दिये हैं। इन के सवा और भी बहुत हैं, सूक्ष्म सूक्ष्म गुणों, पक्षों, रूपों, लक्षणों के भेद से। अधिक प्रसिद्ध पौराणिक नाम, ब्रह्मा-विष्णु-शिव हैं, और दार्शनिक नाम महत्, बुद्धि, विद्याऽविद्या रूपिणी माया, शक्ति, आदि। बृंहयति जगत् इति ब्रह्मा, जगत् को जो बढ़ावै, फैलावै। विसिनोति सर्वान् प्राणिनः, विशति वा सर्वेषु प्राणिषु, इति विष्णुः, जो सब के भीतर पैठ कर सब को एक दूसरे से बांधे रहे। शेते सर्वभूतेषु इति शिवः, सब में सोया हुआ है। वसति सर्वेषु, स्ववासनया वासयति सर्वमनांसि इति, वासुदेवः, सब हृदयों में बसा है, सब को अपनी वासना से वासित करता है। इसी से लोकमत, पब्लिक ओपिनियन, वर्ल्ड-ओपिनियन[२], में इतना बल है, कि बड़े-बड़े युद्ध-प्रिय मानव-हिंसक देश-विजेता सेनाधिप भी, उसको सशस्त्रास्त्र सेनाओं से अधिक प्रबल मानते रहे हैं, और उस से डरते रहे हैं। जब वासुदेव-विश्वात्मा-ओवरसोल-ऐनिमामंडी-रूहिकुल की राय बदलती है तब बड़े बड़े राष्ट्रों के रूप तत्काल बदल जाते हैं। सब शास्त्र, सब अनंत ज्ञान विज्ञान, इसी में भरे पड़े हैं, इसी से निकलते हैं, और इसी में फिर लीन हो जाते हैं। किसी मनुष्य का कोई नई बात पाना, नये शास्त्र का आरंभ और प्रवर्तन करना, नया आविष्कार, ईजाद, उपज्ञ, करना, मानों इसी समुद्र में गोता लगा कर एक मोती ले आना है, उस छोटे अंश में अपनी अक़्ल को, बुद्धि को, अक़्लि-कुल से, महा बुद्धि से, अनंत बुद्धि से, महत्तत्त्व महानात्मा से, मिला देना है।

स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्वः।
अद्धत्स्वाननुभूतोऽर्थो न मनः स्प्रष्टुमर्हति॥ (भागवत)

विद्यते स च सर्वस्मिन् सर्वं तस्मिंश्च विद्यते।
कृत्स्नं च विंदते ज्ञानं तस्मात्संविन्महान् स्मृतः॥
वर्त्तमानान्यतीतानि तथा चानागतानपि।
स्मरते सर्वकार्याणि तेनासौ स्मृतिरुच्यते॥

---

[१] Amina Mundi, Universal Reason, The Unconscious, Unconscious-Will and-Imagination, Cosmic Ideation, Mass-mind, Collective Intelligence, Diffused Intelligence.

[२] Public opinion, World opinion,

ज्ञानादीनि च रूपाणि क्रतुकर्म फलानि च।
चिनोति यस्माद् भोगार्थं तेनासौ चितिरुच्यते।
(सर्वभूत-भवद्-भव्य-भाव-संचयनात्तथा)।
द्वंद्वानां विपुलीभावाद् विपुरं चोच्यते बुधैः॥ (वायु पु०)

भूत, भवद्, भविष्य, सब ज्ञान, सब अनुभव, सब भाव, सब पदार्थ इसी में हैं। सब का इस को सदा स्मरण रहता है, इस से इसका नाम स्मृति है; सब का संचय है, इस लिये चिति; इत्यादि। सूफ़ियों ने भी कहा है।

जो इल्मो हिकमत का वो है दाना
तो इल्मो हिकमत के हम हैं मूजिद।
है अपने सीने में उस से ज़ायद
जो बात वाएज़ किताब में है॥
लौहि-महफ़ूज़स्त दर मानी दिलत।
हर चि मी ख़्वाही शवद ज़ू हासिलत॥
दर हक़ीक़त ख़ुद तु ई उम्मुल किताब।
ख़ुद ज़े ख़ुद आयाति ख़ुद रा बाज़ याब॥
आवाज़-इ खल्क़ नक़्क़ार-इ ख़ुदा।

अपने दिल में, समाज के हृदय में, बुद्धि में, सूत्रात्मा में, सब कुछ भरा है। जिस विषय की तीव्र आकांक्षा समाज में उपजती है, उस विषय का ज्ञान भी शीघ्र ही उपजता (उपज्ञात होता) है। ईजाद, उपज्ञा, को गहिरा स्मरण ही समझना चाहिये। और न्याय सूत्र में कहा है, "स्मरणं तु आत्मनो ज्ञस्वाभाव्यात्", परम-आत्मा ज्ञानमय है, उसका स्वभाव ही ज्ञातृत्व सर्वज्ञत्व है, इसी लिये जीव-आत्मा को स्मरण होता है।

तो पौराणिक रूपक ठीक है कि ब्रह्मा ने ऋषियों को उत्पन्न करके उनको ज्ञान दिया, और उन्होंने राजाओं को सिखाया। आज भी यह रूपक प्रत्यक्ष चरितार्थ है। नयी "सायंटिफ़क डिस्कवरी",[१] वैज्ञानिक आविष्कार, विज्ञानाचार्य करते हैं; तदनुसार शासक वर्ग धर्म क़ानून बनाता है। इसी प्रकार से, पुराकाल मे, जब आत्मविद्या की समाज में तीव्र आवश्यकता और इच्छा हुई, तब वह प्रकटी, समाज के योग्यतम मनुष्यों की बुद्धि में उसने अवतार लिया, और उसका उपयोग, प्रयोग, मनुष्यों के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के अंगों के नियमन, शोधन, प्रसादन के लिये, किया गया।

---

[१] Scientific discovery.

ब्रह्म और धर्म । राजविद्या और राजधर्म

इतिहास-पुराणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि यह विद्या, भारतवर्ष की उत्कृष्टावस्था में, कभी भी केवल संन्यासोपयोगिनी ही नहीं, प्रत्युत समग्र सांसारिक व्यवहार की शोधिनी भी, समझी गई। धर्म-जिज्ञासा, ब्रह्म-जिज्ञासा, दोनों ही दर्शन की विषय हैं। प्रसिद्ध छः दर्शनों में वैशेषिक आदिम, और वेदांत अंतिम, समझा जाता है। वैशेषिक में प्रायः बहिर्मुख दृष्टि के पदार्थों के विशेष विशेष धर्मों का विशेषतः, और मनुष्य के कर्त्तव्य कर्मविशेष रूपी धर्मों का सामान्यतः और आपाततः, विचार किया है। वेदांत में प्रायः अंतर्मुख और फिर सर्वतोमुख दृष्टि से ब्रह्म का दर्शन किया गया है, जिसी के स्व-भाव से सब धर्म निकलते हैं, जिसी की प्रकृति पर सब धर्म प्रतिष्ठित हैं, जिस ब्रह्मतत्त्व के ज्ञान के बिना धर्मतत्त्व का अभ्रांत ज्ञान असम्भाव्य है, जिस ब्रह्म के अनुभव करने वाली अवस्था का एक नाम इसी हेतु से, योग दर्शन में, धर्म-मेघ समाधि कहा है। धर्मान्, संसारचक्रनियमान्, विधीन्, मेहति, वर्षति, प्रकटी-करोति, उत्पादयति च ज्ञापयति च, इति धर्ममेघः। संसार-चक्र के नियम वा विधि रूपी धर्म[1] और उनका ज्ञान, जिससे उत्पन्न होते हैं, उस ब्रह्मावस्था का नाम धर्ममेघ और धर्ममेघ समाधि है।

ब्रह्म और धर्म, वेदांत और मीमांसा, ज्ञान और कर्म, वेद और लोक (इतिहास-पुराण), शास्त्र और व्यवहार, सिद्धांत और प्रयोग, राजविद्या और राजधर्म, नय और चार, सायंस और ऐप्लिकेशन, थियरी और प्रैक्टिस, मेटाफिज़िक्स और एथिक्स-डोमेस्टिक्स-पेडागोजिक्स-ईकोनामिक्स-सोसियोनामिक्स-पालिटिक्स,[2] इल्म और अमल, का पद पद पर संबंध है। बिना एक के दूसरा सधता ही नहीं। मनु का आदेश है,

> ध्यानिकं सर्वमेवैतद् यद् एतद्-अभिशब्दितम्।
> न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते॥
> सैनापत्यं च राज्यं च दंडनेतृत्वमेव च।
> सर्वलोकाधिपत्यं वा वेदशास्त्रविदर्हति॥
> एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
> स विज्ञेयः परो धर्मो नाऽज्ञानामुदितोऽयुतैः॥

---

[1] The Laws of Nature, the Laws of the World-Order.

[2] Science and application; theory and practice; metaphysics and ethics—domestics—pedagogics—economics—sociono-mics—politics.

याज्ञवल्क्य ने भी कहा है,

चत्वारो वेदधर्मज्ञा पर्षत् त्रैविद्यमेव वा।
सा ब्रूते यं स धर्मः स्यादेको वाऽध्यात्मवित्तमः ॥

वैयक्तिक और सामाजिक, वैयष्टिक और सामष्टिक, प्रात्येकिक और सामूहिक[1] मानव जीवन के किसी भी अंग का ठीक ठीक प्रबंध, ऐसा मनुष्य कैसे कर सकेगा, जिसको यह ज्ञान नहीं है कि मनुष्य क्या है, उसकी आत्मा का स्वरूप क्या है, उसकी प्रकृति, उसका स्वभाव, उसका चित्त, और चित्त की संक्रिया विक्रिया, क्या है, उसके शरीर की बनावट और धर्म और गुण दोष आरोग्य सारोग्य क्या है, उसके जीवन का तत्व क्या है, जीना मरना क्या है, जीवन के हेतु और उसके लक्षण क्या हैं ? ऐसी बातों का जिसको ज्ञान हो, जो अध्यात्मवित् है, उसी को धर्म के व्यवसान और धर्म के प्रवर्तन के प्रभावी और विशाल कार्य सौंपने चाहियें। एक भी मनुष्य, यदि सचमुच अध्यात्मवित्तम है तो, जो निर्णय कर दे वह धर्म ठीक ही होगा। भारतीय समाज का सब प्राचीन प्रबंध, इसी हेतु से, अध्यात्मविद्या की नीवी पर, फ़िलासोफ़ी और साइकालोजी[2] की बुनियाद पर, बाँधा गया था।

इस देश के प्राचीन विचार में धर्म और ब्रह्म का कैसा निकट संबंध था, कैसा इनके बीच में प्राण-संबंध, यौन-संबंध, माना जाता था, इसका उदाहरण मनु के श्लोक में देख पड़ता है, यथा,

जायंते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः। (३—४१)

अनमेल, बेजोड़, अनुचित, दुःशील, दुष्ट भाव से प्रेरित, दुर्विवाहों से, ब्रह्म और धर्म का, सज्ज्ञान और सदाचार का, द्रोह करने वाली सन्तान उत्पन्न होती है। यह एक गम्भीर बात अध्यात्मविद्या की, सैको-फ़िजिक्स[3] की, है। जो अध्यात्मविद्या, राजविद्या, दुःख के मूल का, मूल दुःख का, आध्यात्मिक मानस दुःख का, मूलोच्छेद करने का उपाय बताती है, वह उस मूल दुःख के सांसारिक, आधिभौतिक, आधिदैविक, शाखा पल्लव रूप दुःखों को भी काटने, छाँटने, कम करने का उपाय, निश्चयेन, राजधर्म के द्वारा, बताती है।

राजधर्म के, जिसी के दूसरे नाम राजशास्त्र, राजनीति, दंडनीति, नीति शास्त्र, आदि हैं, ग्रंथों में, (धर्म-परिकल्पक ब्राह्मण और) धर्म-प्रवर्तक क्षत्रिय अर्थात् शासक के लिए, आन्वीक्षिकी विद्या के ज्ञान की आवश्यकता सब से पहिले रक्खी गई है।

---

[1] Individual and Social, Single and Collective.

[2] Philosophy and Psychology.

[3] Psycho-physics; higher eugenics.

मनु की सब शासकों, राजाओं, अधिकारियों के लिए आज्ञा है।

तेभ्यो (वृद्धेभ्यो) ऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः।
बहवोऽविनयान्नष्टाः राजानः सपरिच्छदाः ॥
त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दंडनीतिं च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्चे लोकतः ॥
इंद्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशं।
जितेंद्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥

(७—३९, ४०; ४३, ४४)

जिसको शासन का, प्रजा के पालन का, कार्य करना है, (और याद रखने की बात है कि सभी गृहस्थ, सभी व्यवहारी, अपने गृह और व्यवहार के मंडल के शासक, राजा, अधिकारी होते हैं), उसको सुविनीतात्मा होना चाहिये, और नित्य नित्य वृद्धों से, विद्वानों से, अधिकाधिक विद्या और विनय सीखते रहना चाहिये। बहुतेरे राजा, अपने परिच्छद परिवार सहित, अविनय के, उद्दंडता, उच्छृंखलता, स्वच्छंदता के कारण, नष्ट हो गये। इसलिये वेदों के, विविध शास्त्रों के, जानने वालों से, त्रयी विद्या को, वेदों, वेदांगों, मीमांसा, धर्मशास्त्र, और पुराणों को, तथा शाश्वत काल में, सदा, हित करने वाली दंडनीति को, तथा आन्वीक्षिकी को, सीखै; और वार्ता-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र को, स्वयं साक्षात् लोक के व्यवहार को देखकर सीखै; और अपनी इन्द्रियों को वश में रखने का यत्न दिन रात करता रहै। जिसकी इंद्रियां वश में हैं, वही प्रजा को भी अपने वश में रख सकता है; जो स्वयं सन्मार्ग पर चलता है, वही उनको सन्मार्ग पर चला सकता है; जो अपना सच्चा कल्याण करना जानता है, वही उनका भी सच्चा कल्याण कर सकता है। जो आत्मज्ञानी नहीं है वह, इंद्रिय-सेवी, मिथ्या-स्वार्थी, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सरादि से अंध होकर, कूट नीति से,[3] धर्म के विरुद्ध दुर्नीति से, काम लेकर, पहिले प्रजा को पीड़ा देगा फिर आप स्वयं नष्ट हो जायगा।

शुक्र प्रभृति दूसरे नीति शास्त्रकारों ने भी यही अर्थ कहा है

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दंडनीतिश्च शाश्वती।

---

[1] विशेषेण नयनं, leading, guiding, training, in special ways; discipline.

[2] अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्मशास्त्रपुराणानि त्रयीदं सर्वमुच्यते ॥ (शुक्रनीति १—१५२)

[3] Machiavellism, unprincipled and vicious policy.

विद्याश्चतस्र एवैता अभ्यसेन्नृपतिः सदा ॥
आन्वीक्षिक्यां तर्कशास्त्रं वेदांताद्यं प्रतिष्ठितम् ।
आन्वीक्षिक्यात्मविद्या स्यादीक्षणात्सुखदुःखयोः ॥
ईक्षमाणस्तया तत्त्वं हर्षशोकौ व्युदस्यति ॥ (शुक्रनीति, १-१५२)

राजा को, शासनाधिकारी को, जिसको मनुष्यों का पालन रक्षण करना है, इन्हीं चार विद्याओं का अभ्यास करना चाहिये। आन्वीक्षिकी का अर्थ है सत्तर्क सदनुमान करने का शास्त्र, न्याय-शास्त्र, तथा वेदांत, आत्म-विद्या। यह नाम, आन्वीक्षिकी, इस विद्या का इस हेतु से पड़ा है कि, इससे सुख और दुःख के स्वरूप और कारणों का अन्वीक्षण, परीक्षण, किया जाता है, और इस ईक्षण का, दर्शन का, सुख दुःख के तत्त्व की पहिचान का, फल यह होता है कि, हर्ष के औद्धत्य और शोक के विषाद का व्युदास निरास करके, अधिकारी सज्जन, शांत स्वस्थ निष्पक्षपात चित्त से, अपना कर्त्तव्य कर सकता है और करता है।

कौटल्य ने अर्थशास्त्र में कहा है,

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दंडनीतिश्चेति विद्याः। सांख्यं योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी। बलाबले चैतासां (अन्यविद्यानां) हेतुभिरन्वीक्षमाणा लोकस्योपकरोति, व्यसनेऽभ्युदये च बुद्धिमवस्थापयति, प्रज्ञा-वाक्य-वैशारद्यं च करोति,

प्रदीपः सर्वविद्यानां उपायः सर्वकर्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता ॥

विद्या-विनय-हेतुरिन्द्रियजयः काम-क्रोध-लोभ-मान-मद-हर्षत्यागात् कार्यः। कृत्स्नं हि शास्त्रमिंद्रियजयः। तद्विरुद्धवृत्तिः चातुरंतोऽपि राजा सद्यो विनश्यति। (कौटल्यकृत अर्थशास्त्र, अधि० १, अ० २; अ० ६)

राजा के सीखने की चार विद्याओं में आन्वीक्षिकी विद्या के अंतर्गत साँख्य, योग, और लोकायत अर्थात् चार्वाकमत भी है। लोकायत मत यह है कि लोक ही, दृश्य ही, इंद्रिय का विषय ही, मुख्य है, सब कुछ है। इससे आरंभ करके जीव, क्रम से, इसके अत्यंत विपरीत, विवर्त्त, तथ्य को प्राप्त करता है, कि द्रष्टा ही, ईक्षिता ही, चेतन, आत्मा, "मैं" ही, मुख्य है, सब कुछ है, और दृश्य ऐन्द्रिय लोक सब इसके अधीन, इसके लिए, इसी का रचा हुआ, है। जब इस तथ्य को अनुभव करके 'तथागत' हो जाता है, तब आन्वीक्षिकी विद्या परिनिष्पन्न होती है और बुद्धि स्थिर होती है। इस विद्या से, अन्य सब अवांतर सुख-साधक दुःख-निवारक शास्त्रों विद्याओं का बलाबल, तारतम्य, जान

"तत्त्वबुभूषया वादः", तत्त्व जानने की सच्ची इच्छा से जो उत्तर प्रत्युत्तर किया जाय, ऐसा श्रेष्ठ वाद मैं हूँ, जल्प वितंडा आदि नहीं हूँ। अर्थात् आत्मा की सत्ता, सत्यता, उसी उक्ति प्रत्युक्ति में है जो सत्य के जानने की सच्ची कामना से भावित प्रेरित है। और ऐसे वाद के द्वारा अध्यात्मविद्या सिद्ध होती है, जो ही विद्या, सब विद्याओं में, मैं हूँ, अर्थात् इसी विद्या में मेरा, परमात्मा का, तात्विक स्वरूप देख पड़ता है। वह स्वरूप क्या है? तो समस्त असंख्य सृष्टियों, संसारों, विश्वों, सौरादि सम्प्रदायों, का आदि मध्य और अंत भी है; सब विश्व इसी में जनमते, ठहरते, लीन होते हैं; सब चेतना के भीतर ही हैं। तथा इस अध्यात्मविद्या के तत्व को जानने वाला मनुष्य दुःख में उद्विग्न नहीं होता, राग द्वेष भय आदि को दूर कर के स्थितधी स्थितप्रज्ञ रहता है। कौटल्य के शब्द गीता के इन्हीं शब्दों के अनुवाद हैं।

योग-वासिष्ठ शुद्ध वेदाँत का ग्रंथ समझा जाता है। वेदांती मंडल में उसके विषय में यहाँ तक प्रसिद्ध है, कि अन्य सब वेदाँत के प्रचलित ग्रंथ, ब्रह्मसूत्र, भाष्य समेत, और ("वार्त्तिकांता ब्रह्मविद्या") सुरेश्वर-कृत बृहदारण्यक-वार्त्तिक सहित, सब साधनावस्था के ग्रंथ हैं, और योग-वासिष्ठ सिद्धावस्था का ग्रंथ है। सो उस योग-वासिष्ठ में नीचे लिखे हुए, तथा उसके समान, श्लोक स्थान स्थान पर मिलते हैं, जो दिखाते हैं कि, वेदांत शास्त्र केवल स्वप्न-दर्शियों का मानस लूता-तंतु-जाल नहीं है, प्रत्युत नितांत व्यावहारिक, व्यवहार का शोधक, शास्त्र है।

कर्कटी के उपाख्यान में कहा है,

> राजा चादौ विवेकेन योजनीयः सुमंत्रिणा ।
> तेनार्यतामुपायाति, यथा राजा तथा प्रजाः ॥
> समस्तगुणजालानामध्यात्मज्ञानमुत्तमम् ।
> तद्विद् राजा भवेद् राजा तद्विन् मंत्री च मंत्रवित् ॥
> प्रभुत्वं समदर्शित्वं, तच्च स्याद् राजविद्यया ।
> तामेव यो न जानाति नासौ मंत्री न सोऽधिपः॥
>
> (प्र० ३, अ० ७८)

यदि राजा को स्वयं विवेक न हो तो मंत्री का, मंत्र, सलाह, देने वाले का, पहिला कर्तव्य यह है कि राजा को विवेक सिखावै, तब राजा आर्य बनैगा; और जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा भी होती है। सब गुणों के समूहों में सब से उत्तम आत्म-ज्ञान है। उसका जानने वाला राजा राजा, और उसका जानने वाला मंत्री मंत्री। प्रभुता का तत्व समदर्शिता। प्रभु को, शासक को, निष्पक्ष, समदर्शी, रागद्वेष से रहित, होना चाहिये। जो समदर्शी है, उसी के

प्रभुत्व को जनता हृदय से स्वीकार करती है, उसी का प्रभाव मानती है। वह समदर्शिता राजविद्या से, वेदान्त से, वेद के, ज्ञान के, अंत से, इंतिहा से, परा काष्ठा से, ही मिलती है। जो ऐसी राजविद्या को नहीं जानता वह न सच्चा राजा है न मंत्री।

ईशोपनिषत् के (जिसकी विशेषता यह है कि वह यजुर्वेद के संहिता भाग का अंतिम, चालीसवाँ, अध्याय भी है, और उपनिषत् भी है, अन्य कोई उपनिषत् किसी वेद के संहिता भाग में अंतर्गत नहीं है) प्रायः प्रत्येक श्लोक में ब्रह्म और धर्म, ज्ञान और कर्म, का समन्वय किया है।

इस प्रकार से सिद्ध होता है कि पश्चिम में चाहे जो कुछ विचार इस विषय में हो, कि फ़लसफ़ा निरा मन बहलाव है, और .फ़ुरसतवालों का बेकार बेसूद खेल है, पूर्व में तो फ़िलासोफ़ी, ।थियोरेटिकल नहीं बल्कि बड़ी प्रैक्टिकल,[१] भारत के उन्नति काल में, समझी गई है; और इसका मुख्य प्रयोजन मानस शांति, मानस दुःख की निवृत्ति होकर, उसी का गौण, गुण-भूत, और गुर्वर्थ प्रयोजन सांसारिक व्यवहार का संशोधन-नियमन, और गृह कार्य, समाज कार्य, राज कार्य आदि का, तज्जनित स्थिरबुद्धि से, संचालन, और, यथासम्भव, व्यावहारिक दुःखों का निवर्त्तन और व्यावहारिक सुखों का वर्धन भी है।

पश्चिम में भी उक्त भाव, फ़िलासोफ़ी के अनादर का, कुछ ही काल तक, बीच में, और विशेष मंडलियों में ही, रहा है। पुराने समय में ऐसा नहीं था, और अब फिर हवा बदल रही है। ग्रीस देश के प्लेटो नामक विद्वान् का मत पश्चिम देश के विद्वानों में प्रसिद्ध है, कि शासक को फ़िलासोफ़र, दार्शनिक, भी होना चाहिये।[२]

---

[१] Philosophy; theoretical; practical.

[२] E. G. Urwick, in the Preface to his *The Message of Plato* (pub. 1920) says he has used the present writer's *The Science of Social Organisation or The Laws of Manu,* extensively in the earlier chapters. Plato himself says in *Republic,* p.198 (English translation by Jowett, pub. 1888):—"If in some foreign clime which is far away and beyond our ken, the practical Philosopher is, or has been, or shall be, compelled by a superior power to have the charge of the state, (there) this our constitution has been and is and will be."

प्लेटो के समय में रोम, ग्रीस, मिस्र, अरब, ईरान, और भारत में, रोज़गार व्यापार के लिये, इतना परस्पर आना जाना था, कि प्रायः निश्चय समझना चाहिये कि प्लेटो को मनु के आध्यात्मिक वर्णाश्रम धर्म और राज्यप्रबंध की कुछ टूटी फूटी .खबर मिली, और उसी के अनुसार, विकलित रूप से, शुद्ध और सकल नहीं, कुछ कल्पना अपने "रिपब्लिक" नामक ग्रंथ में उसने लिख दी।

इस मत की ओर आधुनिक विद्वान् भी झुक रहे हैं, इसका उदाहरण देखिये ।

पश्चिम में आत्मविद्या की ओर बढ़ता झुकाव

इंग्लिस्तान के एक प्रसिद्ध विज्ञान शास्त्री, जे० आर्थर टामसन, ने जो लिखा है, [१] उसका आशय यह है । "केमिस्ट्री, जिसको अधिभूत शास्त्र[२] कह सकते हैं, फ़िज़िक्स, जिसको अधिदेव शास्त्र[३] कह सकते हैं, और

---

[१] "In this chapter we shall begin with Chemistry and Physics, the hardly separable sciences of Matter and Energy, and work upwards through Biology, the Science of Organisms, to Psychology and sociology the Science of Man. The first quarter of the twentieth century has been marked by a fresh enthusiasm for what might be called the scientific study of Man, and since man is essentially a social organism, this study has had, as one of its corollaries, a recognition of the necessity for Sociology, the crowning science. Just as there can be no true art of Medicine without foundations in Physiology, so there can be no true Politics, either national or international, until there are foundations in Sociology, securely laid and skilfully built on;" *These Eventful Years*, Vol II, pp.423–446 ch. xvii, "What Science can do for Man," (pub. 1923).

[२] तत्त्वों, महाभूतों, "एलिमेंट्स", का शास्त्र । साठ वर्ष पहिले तक यूरोप में साठ सत्तर तत्त्व माने जाते थे । रूसी केमिस्ट वैज्ञानिक मेन्डेलेफ़ की उपज्ञाओं के बाद यह विश्वास दिन दिन दृढ़ होता जाता है कि सब तत्त्व क्रमशः एक ही मूल प्रकृति की परिणाम रूप विकृतियां हैं । भारतीय दार्शनिक दृष्टि से, इन विकृतियों में, पंच ज्ञानेन्द्रियों के अनुसार, पाँच विकृतियाँ, अर्थात् पाँच महाभूत, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, मुख्य हैं । क्यों पाँच ही ज्ञानेन्द्रिय, पाँच ही कर्मेन्द्रिय, पाँच ही तन्मात्र, पाँच ही महाभूत, इत्यादि हैं, इस विषय पर प्रसिद्ध संस्कृत ग्रंथों में विचार नहीं मिलता ।

[३] शक्तियों, प्राणों, देवों, का शास्त्र । पश्चिम में, इस शास्त्र में अब तक अधिक तर 'सौंड' अर्थात् शब्द शक्ति, 'लैट' अर्थात् ज्योतिः शक्ति, 'हीट' उष्णता, ताप, अथवा अग्नि शक्ति, 'इलेक्ट्रिसिटी अर्थात् विद्युत् शक्ति, 'मैग्नेटिज़्म' अर्थात् आकर्षण शक्ति का अन्वेषण किया गया है । अब "एक्स-रे" आदि का आविष्कार होने लगा है ।

बायालोजी, साइकालोजी, और सोशियालोजी, तीन जीव-शास्त्र, जो अध्यात्म शास्त्र के अंग कहे जा सकते हैं, इन्हीं को शास्त्रों में प्रधान कहना चाहिये। इनमें भी सोशियालोजी, समाज शास्त्र, मानव शास्त्र, शिरोमणि है। व्यक्ति के, व्यष्टि के, अध्यात्म का विवरण, अंतःकरण बहिःकरण का वर्णन, यदि साइकालोजी है, तो समाज की, मानवसमष्टि की, साइकालोजी ही सोशियालोजी है। यदि एक प्रात्येकिक, वैयष्टिक, प्रातिस्विक, वैयक्तिक, 'पर्सनल' 'इन्डिविड्यु अल', अध्यात्म-शास्त्र है, तो दूसरा सामूहिक, सामष्टिक, सार्वस्विक, जातीयक, 'कलेकटिव', 'सोशल', अध्यात्म-शास्त्र है। और बिना सच्ची समाज-शास्त्र रूपी नीव के, सच्ची, सुफल, दृढ़ राजनीति की इमारत बन नहीं सकता। जैसे, बिना शारीर-स्थान के, अर्थात् शरीर के सब अवयवों के, उत्तम ज्ञान के, सच्चा चिकित्सा-शास्त्र असंभाव्य है।"

इन्ही विद्वान् ने एक दूसरे ग्रंथ में इस आशय से लिखा है,[१]

"यद्यपि उक्त पाँच मुख्य शास्त्रों में सोशियालोजी, समाज शास्त्र, को प्रधान कहा, पर इन पांचों के ऊपर मेटाफ़िज़िक अर्थात् ब्रह्मविद्या, आत्म विद्या, का स्थान है। क्योंकि इन पाँचो का समन्वय करना, ज्ञान-समूह में,

---

भारतीय ज्ञान इस विषय का सब लुप्त गुप्त होरहा है। इङ्गित मात्र मिलते हैं, कि वेद मंत्रों की शक्ति उनके शब्द और स्वर (सौंड) में बसती है, भूस्थानी देवता अग्नि (हीट), अँतरिक्षस्थानी विद्युत् (इलेक्ट्रिसिटी), द्युस्थानी सौर ज्योतिः (लैट) हैं; जैसे पाँच मुख्य इन्द्रियों के विषय-भूत तत्त्व और उनके गुण हैं, वैसे ही एक एक तत्त्व के साथ एक एक विशेष शक्ति का प्रकार (अभिमानी देवता, प्राण) होना चाहिये, और इनके अवांतर भेद बहुत हैं, यथा उनचास भेद मरुत् (वायु) के, उनचास अग्नि के; इत्यादि।

[१] "The five great fundamental sciences are (1) Sociology, (2) Psychology, (3) Biology—of the animate order, (4) Physics, and (5) Chemistry—of the physical order......The aim of Science is the *description* of facts ; the aim of Philosophy, their *interpretation.* There is much need for Metaphysics to function as a sublime Logic, testing the completeness and consistency of scientific description......*Why* things happen......is no proper question for Science; its sole business is....*how* they happen....*Why* is the business of Metaphysics....Science is for Life, not Life for Science"; *Introduction to Science* (H. U. Z. Series), pp. 47, 106, 166-7, 251.

अर्थात् समग्र ज्ञान-पुरुष के काय-व्यूह में, अंगत्वेन इनका यथा-स्थान समावेश करना,[१] उनके तारतम्य, बलाबल, और उचित प्रयोग, का निर्णय करना, इनके अन्तर्गत वस्तुओं के वर्णनों की समीक्षा परीक्षा करके, उन वर्णनों के परस्पर विरोधों को दूर करना, और उनकी त्रुटियों की पूर्त्ति करना—यह काम ब्रह्म विद्या ही कर सकती है।

सायंस, विज्ञान, तो "हाउ", "कथम्", अर्थात् कैसे—इतना ही बतलाता है, वस्तु-स्थिति का वर्णन मात्र कर देता है। उसका अर्थ लगाना, अभिप्राय बताना, क्यों, "ह्वाइ", का निर्णय करना, यह मेटाफ़िज़िक, प्रज्ञान, का काम है। अर्थ का, अभिप्राय का, प्रयोजन का, "किमर्थं", "कस्मात्", क्यों, किस लिये, किस के लिये—इन प्रश्नों का आधार तो चेतन, "लाइफ़"[२], है। और सायंस-विज्ञान चेतन का किंकर है, चेतन सायंस-विज्ञान का किंकर नहीं।

यूरोप के बड़े यशस्वी, जगद्विख्यात, विज्ञान और प्रज्ञान के आचार्य, हर्बर्ट स्पेन्सर महोदय, ने भी इसी आशय के वाक्य इनसे पहिले कहे थे। ये सज्जन, ज्ञान के संग्रह की अनन्य भक्ति के कारण, उसके लिये नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, तथा विविध प्रकार के अन्य त्याग और तपस्या के हेतु से सच्चे ऋषि-कल्प हुए। इन्होंने लिखा है,

"अध्यात्म शास्त्र का अधिकार अन्य सब शास्त्रों से ऊंचा है। यह तो एक स्वलक्षण, विलक्षण, शास्त्र है, अद्वितीय है। इसके समान, इसका सजातीय, कोई दूसरा शास्त्र नहीं। यह दोहरा शास्त्र है। इसका संबंध ज्ञाता से भी और ज्ञेय से भी है, अचेतन शरीर से भी और चेतन शरीरी से भी, विषय से भी विषयी से भी। अन्य शास्त्रों का संबंध केवल विषयों से है, वे एकहरे शास्त्र हैं। यदि हम से पूछा जाय कि मानस पदार्थों का अनुवाद शारीर शब्दों में करना अच्छा है, या शारीर का मानस में, तो हमको दूसरा ही विकल्प, अर्थात् शारीर पदार्थों का मानस पदार्थों में अनुवाद करना ही, अधिक उचित जान पड़ेगा।"[३]

---

[१] यथा-छंदः पादौ तु वेदस्य, हस्तः कल्पोऽथ पठ्यते, इत्यादि।

[२] How; Why; Life; Science; Metaphysic.

[३] "The claims of Psychology···are···not··· smaller but greater than those of any other Science···It is a double science which, as a whole, is quite *sui generis*.....Were we compelled to choose between the alternatives of translating (1) mental into physical, or (2) physical into mental, phenomena, he latter alternative would seem the more acceptable of the two ;" *H. spencer, Principles of Psychology*, I, 141.

श्री टामसन के वाक्यों में, शास्त्रों का राशीकरण, पांच मुख्य शास्त्रों में और छठें मेटाफिज़िक में, कहा गया; इसके आरंभक प्रायः स्पेन्सर महोदय ही हैं। इन्हों ने मेटाफिज़िक, तथा बायालोजी, साइकालोजी, और सोशियालोजी पर बड़े बड़े और सर्वमान्य अति प्रामाणिक ग्रंथ लिखे हैं[१]। और इनकी इच्छा केमिस्ट्री, फ़िज़िक्स, ऐस्ट्रानोमी(खगोल शास्त्र), और जीयालोजी[२] (भूगोल-भूगर्भ-शास्त्र) पर भी ग्रंथ लिख कर चेतनाचेतन जगत् का सम्पूर्ण चित्र खींचने की थी। पर यह इच्छा पूरी न हो सकी। यदि भारतीय दार्शनिक और पौराणिक शब्दों में कहना हो तो यों कहेंगे, कि केमिस्ट्री और फ़िज़िक्स में, "अबुद्धिपूर्वः सर्गोऽयम्"[३], क्रमशः पंच महाभूतों और उनकी शक्तियों, गुणों, का तथा अवांतर भेदों का, आविर्भाव दिखाया जाता है; फिर ऐस्ट्रोनोमी में महा विराट का, ब्रह्म के अंडों, ब्रह्मांडों, से पूर्ण समस्त जगत् खगोल का, वर्णन होता है; फिर जियालोजी में पृथ्वी-गोल रूपी मध्य विराट का; फिर अन्य तीन में क्षुद्र विराट का; तथा सोशियालोजी में "सहस्रशीर्षा पुरुषः" आदि मानव-समाजात्मक विराट का, विविध-वर्ग-वर्णात्मक विराट[४] का, वर्णन होता है; और ब्रह्म विद्या इन सब की संग्राहक व्यवस्थापक है। "ब्रह्मविद्या सर्व-विद्या-प्रतिष्ठा"।

गणित और प्रज्ञान

"मैथेमैटिक्स,"[५] गणित, का सच्चा रहस्य भी तब खुलेगा जब वह ब्रह्म विद्या के गुप्त लुप्त अंश के प्रकाश में जांची और जानी जायगी। यथा, रेखागणित (उक्लैदिस) के पहिले साध्य का चित्र है—परस्पर गुथे हुए दो वृत्त, और उनके बीच में एक समबाहु त्रिभुज। ऐसा चित्र आदि में

---

[१] *First Principles ; Principles of Biology*, 2 *volo; Principles oı Psychology, 2 vols; Prıinciples of Sociology, 3 vols;* इनके सिवा *Principles of Ethics, 2 vols,* लिखा है, जिसको अंशतः *First Principles* अर्थात् Metaphysic का और अंशतः Psychology तथा Sociology का अंग समझा जा सकता है।

[२] Chemistry ; Physics ; Astronomy ; Geology.

[३] अर्थात् Unconscious Inorganic Evolution.

[४] अर्थात् Organic Evolution, of organisms or individualities of various scales—sidereal systems, solar systems, single heavenly orbs, (stars and planets etc.),vital organisms dwelling onthese orbs, (gods, angels, men, animals, vegetables, minerals, etc.), microsccpic organisms living in and forming the cells and tissues of these vital organisms, etc., *ad infinitum.*

[५] Mathematics.

ही क्यों दिया? क्योंकि, श्रीयंत्र आदि के ऐसा, यह यंत्र बहुत गभीर अर्थ का द्योतक है। इसमें आत्मविद्या का, वेदान्त का, सार दिखा दिया है। दो 'वृत्त', आद्यन्तहीन, अनादि और अनन्त, पुरुष और प्रकृति, चेतन और जड़, द्रष्टा और दृश्य, आत्मा और अनात्मा हैं; अभेद्य सम्बन्ध से परस्पर बद्ध भी हैं; अलग भी हैं; इनके बीच, इस सम्बन्ध से, चित्त-देह-मय, तीन तुल्य बलवाले गुणों से बना, त्रिगुणात्मक जीव उत्पन्न होता है; इत्यादि।

भगवद्गीता का श्लोक है,

> यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
> तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥

जगत् की, दृश्य पदार्थों की, विषयों की, असंख्य अनेकता को जब एकस्थ, एक में, द्रष्टा में, विषयी में, स्थित, प्रतिष्ठित, देख ले, और उस एक से इस अनेक के विस्तार के प्रकार को भी जब जान ले, तब जीव का ब्रह्म अर्थात् ज्ञान सम्पन्न होता है; तब जीव ज्ञान विज्ञान से सम्पन्न, प्रज्ञान और विज्ञान दोनों से पूर्ण, होता है; तथा, तब जीव स्वयं ब्रह्म पदार्थ, ब्रह्ममय, हो जाता है। इस सम्पूर्ण ज्ञान का पहिला अर्ध तो प्रज्ञान, मेटाफ़िज़िक, फ़िलासोफ़ी, है; दूसरा अंश, विज्ञान, सायंस है। पहिला शांति शास्त्र, मोक्ष शास्त्र है; दूसरा शक्ति शास्त्र, योग शास्त्र, है। इस शक्तिशास्त्र का मर्म गणित शास्त्र जान पड़ता है। योग शास्त्र, शक्ति शास्त्र, का अति अल्पांश रूप, व्यावहारिक प्रक्रिया शास्त्र, विज्ञान, प्रचलित है; उसमें संख्या, अनुपात, मात्रा[१] (जो सब गणित का अंग है) अत्यंत आवश्यक है। यदि रसायन-कीमिया में, एंजिनियरिङ्-कर्मांत में, मेडिसिन-चिकित्सा में, प्रयोजनीय द्रव्यों की संख्या, मात्रा, अनुपात, पर ध्यान न रक्खा जाय तो कार्य बिगड़ जाय। इस लिये गणित को, एक रीति से, प्रज्ञान और विज्ञान को, जीव और देह को, परस्पर बांधने की रशना, रस्सी, समझना चाहिये। पर इस "सांयस आफ़ नम्बर्स",[२] यथातथ "सांख्य" (संख्या, सम्यक्-ख्यान), के रहस्य का ज्ञान अभी लौकिक मानव जगत् को नहीं मिला है। "ब्रह्मा" के "वेद" में गूढ़ है। हो सकता है कि उस वेद के तात्त्विक ज्ञाता, "वेद-द्रष्टा", "मंत्र-द्रष्टा" और "मंत्र-कृत्", ऋषियों को, तपः-सिद्धों को हो, और साम्प्रत मानव जातियों की काम क्रोध लोभादि से अंध प्रकृति को, देखते हुए, वे उन रहस्यों को इनकी बुद्धि में आने देना उचित नहीं समझते। जितना जान गये हैं उसी से प्रबल जातियों के प्रबल वर्ग, दुर्बलों की कोटियों का विनाशन और यमयातन कर रहे हैं। इस लिये

---

१ Numbers ; proportions ; degrees and quantities.

२ Science of numbers.

ऐसी तीव्र उग्र शक्ति के देने वाले ज्ञान का तब तक प्रचार न होना ही अच्छा है जब तक मनुष्य मनुष्य नहीं हैं, राग द्वेष के विषय में पशुओं से भी अधिक पतित हो रहे हैं[१]। अस्तु। प्रसंगवशात्, शास्त्रों के वर्गीकरण के संबंध मे, गणित शास्त्र की और उसके स्थान की चर्चा आ गई।

अध्यात्म विद्या की शाखा-प्रशाखा

प्रस्तुत विषय यह है कि पश्चिम में भी अध्यात्म विद्या का आदर होने लगा है। अर्थात्, यों तो इस विषय पर ग्रंथ यूरोप में भी बहुतेरे, प्रत्येक शताब्दी में, लिखे जाते ही रहे हैं,और उनका अध्ययन अध्यापन भी होता ही रहा है, पर अब, विशेष कर के उन वैज्ञानिक मंडलियों में भी जिनमें इसका तिरस्कार हो चला था, कि यह अनुपयोगी जल्प विवाद मात्र का भंडार है, इसकी व्यावहारिक उपयोगिता में विश्वास, और इसकी शाखा प्रशाखाओं का अन्वेषण, और उनका अध्ययन, और मानस विकारों की चिकित्सा में, तथा व्यापारों में (जिनमें इसके प्रयोग की संभावना भी नहीं की जाती थी), इसके प्रयोग का पक्षपात, दिन दिन बढ़ रहा है।

इसका एक सीधा प्रमाण यह है, कि इधर तीस चालीस वर्ष के भीतर, साइकालोजी आफ़ सेक्स (स्त्री-पुं-भेद, काम, मैथुन्य, की अध्यात्म विद्या), साइकालोजी आफ़ रिलिजन (उपासना की), साइकालोजी आफ़ आर्ट (ललित कला की) या ईस्थेटिक्स, साइकालोजी आफ़ इंडस्ट्री (व्यापार की), साइकालोजी इन पालिटिक्स (शासन नीति की), साइकालोजी आफ़ एविडेन्स (साक्षिता की), एक्सपेरिमेंटल साइकालोजी (अंतःकरण वहिष्करण के संबंध की परीक्षा के लिये 'योग्या' अर्थात् आज़माइश की) साइकालोजी आफ़ एड्युकेशन (शिक्षा की), साइकालोजी आफ़ टाइम (काल, समय, की), साइकालोजी आफ़ रीज़निङ् (तर्क, अनुमान, की), साइकालोजी आफ़ लाफ़टर (हास की), साइकालोजी आफ़ इमोशन (क्षोभ, संरम्भ, राग-द्वेष, की), साइकालोजी आफ़ इन्सैनिटी (उन्माद की), साइकालोजी आफ़ कैरेक्टर (स्वभाव, प्रकृति, की) सोशल साइकालोजी (समाजकी), फ़िलासोफ़ी आफ़ म्युज़िक (संगीत की), साइकालोजी आफ़ कलर (रंग की), साइकालोजी आफ़ लैंग्वेज (भाषा की), चाइल्ड-साइकालोजी (बालकों की), ऐनिमल साइकालोजी (पशुओं की), साइकालोजी आफ़ कन्वर्शन (हृदय-विवर्त्त, भाव-परिवर्त्त, की), साइकालोजी आफ़ दी सोशल इन्सेक्ट्स (संघजीवी कीट, यथा पिपीलिका, मधु-मक्षिका, आदि की), साइकोलोजी-पाथोलोजी (मानस रोग चिकित्सा),

---

[१] "Where ignorance is bliss,'tis folly to be wise"

साइकालोजी आफ़ रिवोल्यूशन (राष्ट्र-विप्लव की), साइकालोजी आफ़ दी क्रौड (जन-संकुल की), साइकालोजी आफ़ लीडरशिप (नेतृत्व की), साइको-आनालिसिस (मानस रोग निदान), साइको-फ़िज़िक्स (चित्त-देह संबंध), साइकिएट्री (विकृत चित्त की वृत्तियां),[१] इत्यादि नामों की सैकड़ों अच्छी अच्छी ज्ञानवर्धक, विचारोद्बोधक, तथा चिन्ताजनक, भ्रमकारक, और भयावह भी, पुस्तकें छपी हैं।

इन नामों से ही विदित हो जाता है कि मानव जीवन के सभी अंगों पर साइकालोजी का प्रभाव पश्चिम में माना जाने लगा है। अंग्रेजी कवि की बहुत प्रसिद्ध पंक्ति है,

मानव के अध्ययन कौ उचित विषय है आप।[२]

"नो दाइ सेल्फ़", अपने को जानो, यह ग्रीस देश के 'सप्तर्षियों'[३] में से, जिनका काल ईसा से छः सात सौ वर्ष पूर्व माना जाता है, एक, काइलोन, का प्रवाद था। और हाल में "नो दाइ सेल्फ़" नाम से एक ग्रंथ इटली देश के एक विद्वान् ने लिखा है, जिसका अनुवाद अंग्रेजी "लाइब्रेरी आफ़ फिलासोफ़ी" नाम की ग्रंथ-माला में छपा है।

आत्म-विद्या और चित्त-विद्या।

इस स्थान पर यह कह देना चाहिये कि पश्चिम में अब कुछ दिनों से मेटाफ़िज़िक को साइकालोजी से अलग करने की चाल चल पड़ी है। यह रविश एक दृष्टि से ठीक भी है। "अणुरपि विशेषः अध्यवसायकरः"। सूक्ष्म सूक्ष्म विशेषों का विवेक करने से ज्ञान का विस्तार, और निश्चय भी, बढ़ता है। विशेष और व्यक्त, सामान्य और अव्यक्त, प्रायः पर्यायवत् हैं। जितनी

---

[१] Psychology of Sex ; Psychology of Religion ; P. of Art or Æsthetics ; P. of Industry ; P. in Politics ; P. of Evidence ; Experimental Psychology; Psychology of Education ; P. of Time ; P. of Reasoning ; P. of Laughter ; P. of Emotion ; P. of Insanity ; P. of Character ; Social Psychology ; Philosophy of Music ; P. of Colour ; P. of Language ; Child-Psychology ; Animal Psychology ; Psychology of Conversion ; P. of the Social Insects ; Psycho-pathology ; Psychology of Revolution ; P. of the Crowd ; P. of Leadership ; Psycho-analysis ; Psycho-physics ; Psychiatry ; etc.

[२] "The proper study of mankind is Man."

[३] "Know they-self" ; The seven sages of Greece.

अधिक विशेषता, उतनी अधिक व्यक्ति, इंडिविडियुऐलिटी[1]। जितनी अधिक समानता, उतनी अधिक अव्यक्ति, युनिवर्सेलिटी[2]। पर, "अति सर्वत्र वर्जयेत्," इसका भी ध्यान रखना चाहिये। इतना विवेक करने का यत्न न करना चाहिये, कि विविक्तों में अनुस्यूत, अविवेकी, सब पदार्थों के अभेद्य संबंध का हेतु, एकता का सूत्र, ही टूट जाय। टूट सकता ही नहीं। एकता और अनेकता, सामान्य और विशेष, जाति और व्यक्ति, पृथक् ही नहीं की जा सकते; इनका समवाय-सम्बन्ध है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना[3]॥ (भगवद्गीता)

सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्।
ह्रासहेतुः विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु॥

सामान्यमेकत्वकरं विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्।
तुल्यार्थता तु सामान्यं विशेषस्तु विपर्ययः॥ (चरक, अ० १)

सब भूतों, सब पदार्थों, का मध्य मात्र व्यक्त है, ज़ाहिर है; आदि अंत अव्यक्त हैं, बातिन हैं। सामान्य पर अधिक ध्यान देने से सब भावों की वृद्धि होती है; विशेष से ह्रास; सामान्य से एकता, विशेष से पार्थक्य। जिन्स पर, तजनीस पर, ज़ोर देने से हम-जिन्सियत ज़ोर पकड़ती है, इत्तिहाद, इत्तिफ़ाक़, इत्तिसाल, यगानगी, दिल में पैवस्त होती है; शख़्स पर, तशख़ीस पर, ग़ौर करने से शख़्सियत बढ़ती है, ख़ुसूसियत, ग़ैरियत, बेगानगी, इम्तियाज़, इन्फ़िराक़, की तरफ़ दिल रुजू होता है। मैं फ़ुलाँ शख़्स हूँ—एक मूठी हाड़ माँस से वस्ल हुआ, बाक़ी सब आदमियों से फ़स्ल हुआ; मैं फ़ुलां क़ौम या मज़हब का हूँ—उस क़ौम या मज़हब वाले सब आदमियों से मेल हुआ, बाक़ी सब क़ौमों मज़हबों से तनाव; में इन्सान हूँ—सब इन्सानों से वहदत हो गई मगर ग़ैर-इन्सानों से ग़ैरियत रही; मैं चेतन हूँ—सब चेतन जीव मेरे ही, मैं ही, हो गये।

जगत् में इन दोनों भावों की प्रवृत्ति सदा होती रहती है, इनका भी अच्छेद्य अभेद्य द्वंद्व है। मेटाफ़िज़िक-ब्रह्मविद्या, का तो बड़ा काम ही यह है

---

[1] Individuality, Particularity, Singularity, Speciality.

[2] Universality, Generality.

[3] "Who knows? From the Great Deep to the Great Deep he goes!"; Tennyson. The Unmanifest, the Indefinite, the Unconscious, is on both sides of the Definite, the Conscious, the Manifest.

कि इस सर्वव्यापी, सर्वसंग्रही, सर्वसंबंधकारी सूत्र को दृढ़ करे, सिद्ध करे, चित्त में बैठा दे, कि

सर्वं सर्वेण सम्बद्धं, नैव भेदोऽस्ति कुत्रचित् ।

मेंटल और फ़िज़िकल फ़ेनामेना का,[1] बौद्ध और भौतिक विकारों का, चित्त-वृत्तियों और शरीरावस्थाओं का, परस्परानुवाद करना, इसके सर्व-संग्रह के कार्यों में एक कार्य है ।

यथैव भेदोऽस्ति न कर्मदेहयोस्तथैव भेदोऽस्ति न देहचित्तयोः ।
यथैव भेदोऽस्ति न देहचित्तयोस्तथैव भेदोऽस्ति न चित्तजीवयोः ॥
यथैव भेदोऽस्ति न चित्तजीवयोस्तथैव भेदोऽस्ति न जीवब्रह्मणोः ।
यथैव भेदोऽस्ति न जीवब्रह्मणोस्तथैव भेदोऽस्ति न ब्रह्मकर्मणोः ॥
(योग वासिष्ठ)

कर्म और देह में भेद नहीं, देह और चित्त में भेद नहीं, चित्त और जीव में भेद नहीं, जीव और ब्रह्म में भेद नहीं, ब्रह्म और कर्ममय संसरण-समष्टि में भेद नहीं। समुद्र और वीची तरङ्ग लहरी बुद्बुद स्पंद में भेद नहीं। ब्रह्म-सूत्र पर जो भाष्य शंकराचार्य ने रचा उसका नाम शारीरक भाष्य रक्खा है। शरीरे भवः, शरीरेण व्यज्यते, इति शारीरः, शरीरवान् ब्रह्म। अणोरणीयान्, महतोमहीयान्, छोटे से छोटे, बड़े से बड़े, अनंत असंख्य जंगम्यमान जगत् पदार्थों का रूप धरे, अमूर्त्त होते हुए भी मूर्त्त ब्रह्म परमात्मा के विषय में जो भाषण किया जाय वह शारीरक भाष्य। क्यों कि अमूर्त्त ब्रह्म का व्याख्यान तो मौन से ही होता है।

गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तूच्छिन्नसंशयाः ।

निष्कर्ष यह कि मेटाफ़िज़िक और साइकालोजी में विवेक करते हुए भी उनके घनिष्ठ संबंध को सदा याद रखना चाहिये। स्यात् अच्छा हो यदि यह संकेत स्थिर कर लिया जाय कि ब्रह्मविद्या का अंग्रेज़ी पर्याय मेटाफ़िज़िक, और अध्यात्मविद्या का साइकालोजी है; तथा आत्मविद्या शब्द दोनों का संग्राहक माना जाय। ग्रीक भाषा में मेटा का अर्थ परे है, और फ़िज़िका का, द्रव्य, मात्रा, स्थूलेंद्रियों का समस्त विषय; जो ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से परे है, अर्थात् परम-आत्मा, ब्रह्म, उसकी विद्या ब्रह्म विद्या, मेटाफ़िज़िक। साइकी का अर्थ चित्त, मनस्, जीव, और लोगास का अर्थ शब्द, व्याख्यान, शास्त्र; जीव का, चित्त का, अंतःकरण का शास्त्र अध्यात्मविद्या, साइकालोजी। गीता में कहा

---

1 Mental and physical phenomena.

है, "स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते"; इसका अर्थ एक यह भी हो सकता है कि, आत्मा का जो त्रिगुणात्मक स्वभाव है, जिसी को प्रकृति, जीव, चित्त, अंतःकरण आदि नामों से, सूक्ष्म सूक्ष्म भेदों से, पुकारते हैं, वही अध्यात्म है; इसकी विद्या अध्यात्मविद्या है। समष्टयवस्था का नाम ब्रह्म; व्यष्टयवस्था का नाम ब्रह्मा; एक ब्रह्म-अंड का अधिकारी। अव्यक्त आकार का नाम चित्, चिति, चेतन, चैतन्य; व्यक्त रूप का नाम चित्त। सार्वस्विक, 'यूनिवर्सल', दशा का नाम परमात्मा, प्रातिस्विक, 'इन्डिविड्युअल', दशा का नाम जीवात्मा। आत्मा शब्द परम का भी, चरम का भी, दोनों का संग्राहक।

आत्मविद्या के अवांतर विभाग

ऐसी सूक्ष्म विवेक की दृष्टि से अब फ़िलासोफ़ी में, पश्चिम में, कई पृथक् २ अंग माने जाने लगे हैं। (१) मेटाफ़िज़िक अथवा फ़िलासोफ़ी प्रापर, (२) साइकालोजी, (३) लाजिक, (४) एथिक्स, (५) ईस्थेटिक्स[१] प्रभृति। कुछ दशाब्दी पूर्व, हिस्टरी आफ़ फ़िलासोफी भी इन्हीं के साथ एक और अंग समझा जाता था, और इस विषय के ग्रंथों में अन्य सब अंगों के विकास और विकासकों का इतिवृत्त लिखा जाता था। पर अब अलग अलग हिस्टरी आफ़ एथिक्स, हिस्टरी आफ़ लाजिक, हिस्टरी आफ़ ईस्थेटिक्स, और हिस्टरी आफ साइकालोजी पर ग्रंथ लिखे और छापे जाने लगे हैं। गीता में कहा है, "नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे", अर्थात् मेरी, "मैं" की, मुझ परमात्मा की, विभूतियों का, विशेषों का, विस्तर (डीटेल्स) का, अन्त नहीं है; कहां तक खोजोगे; मुख्य मुख्य सामान्यों से, अनुगमो, निगमों, नियमों, लक्षणों से, सब विशेषों, विस्तरों, का ग्रहण करके संतोष करो। यही अर्थ मनु ने भी दूसरे प्रसंग में, कहा है, "विस्तरं तु न कारयेत्"।

स्थूल रीति से कह सकते हैं कि सब से अधिक व्यापक अनुगमों के, जगद्व्यापी नियमों के, संग्रह को, शास्त्र को, मेटाफिज़िक या फ़िलासोफ़ी प्रापर कहते हैं। अंतःकरण की, चित्त की, बनावट और वृत्तियों के शास्त्र को साइकालोजी, दी सायंस आफ़ माइंड। अभ्रांत, सत्य, तर्क और अनुमान के प्रकार के शास्त्र को लाजिक, दी सायंस आफ़ रीज़निङ्। सद् आचार के शास्त्र को एथिक्स, या मारल्स, दी सायंस आफ़ कांडक्ट। उत्तम ललित कलाओं और उत्कृष्ट ऐंद्रिय सुखों के शास्त्र को ईस्थेटिक्स,[१] दी

[१] Metaphysic or Philosophy proper, the Science of Being, or Reality, or Truth; Psychology, the Science of Mind; Logic, the Science of Reasoning or Thinking; Ethics, or Morals, the Science of Conduct; Æsthetics, the Science of Fine Art and Refined Sensuous Pleasure.

सायंस आफ फ़ाइन आर्ट ऐंड रिफ़ाइन्ड सेन्सुअस लेभ्अर। इन सब का कैसा घनिष्ठ संबंध है, यह उनके लक्षणों के सूचक नामो से ही विदित हो जाता है। इतना और ध्यान कर लिया जाय तो भारतीय दर्शनों का, विशेष कर षड् दर्शनों का, और यूरोपीय दर्शनों का, समन्वय देख पड़ने लगेगा—यथा, अतःकरण और बहिष्करण का अविच्छेद्य संबंध है; अतः साइकालोजी और फ़िज़ियालोजी, चित्त शास्त्र और शरीर शास्त्र, नितरां अलग नहीं किये जा सकते, केवल अपेक्षया, वैशेष्यात्, अलग किये जाते हैं। तथा फ़िज़ियालोजी का बायालोजी (जन्तु शास्त्र) से, उसका केमिस्ट्री (रसायन अथवा महाभूत शास्त्र) से, उसका फिज़िक्स (अधिदेव शास्त्र) से, अटूट संबंध है। इस लिये सभी शास्त्रों के विषय सभी शास्त्रों में, न्यूनाधिक, उपनिपतित हैं, और सभी का सभी से संबंध है। जैसा सुश्रुत में कहा ही है,

अन्यशास्त्रविषयोपपन्नानां चार्थानामिह उपनिपतितानाम् अर्थवशात् तद्विद्येभ्य एव व्याख्यानमनुश्रोतव्यं, कस्मात्, न ह्येकस्मिन् शास्त्रे शक्यः सर्वशास्त्राणामवरोधः कर्तुम्।

एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम्।
तस्माद् बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयात् चिकित्सकः॥

(सूत्रस्थान, अ० ५)

किसी भी शास्त्र में, जब दूसरे शास्त्रों के विशेष विषय, प्रसंग वश से, आ जाते हैं, क्योंकि सबका संबंध सामान्यतः सब से है, तब उन २ शास्त्रों के विशेषज्ञों से उन २ विषयों को जान लेना चाहिये। एक ही ग्रंथ में सब शास्त्रों के विषय विस्तार से नहीं बंद किये जा सकते हैं, और बिना बहुश्रुत हुए कोई भी शास्त्र ठीक ठीक नहीं जाना जाता। यहां तक कि "एकमेव शास्त्रं जानानः न किंचिदपि शास्त्रं जानाति", एक ही शास्त्र को जानने वाला कुछ भी शास्त्र नहीं जानता। अँग्रेजी में भी कहावत है कि सुशिक्षितता, शिष्टता, कल्चर, का अर्थ यह है कि किसी एक विषय का सब कुछ और सब अन्य विषयों का कुछ कुछ जाने[1]। दर्शन शास्त्र का प्रधान गुण यह है कि इसमें सभी शास्त्रों के मूल अनुगमों, सिद्धांतों, का संग्रह और परीक्षण देख पड़ता है[2]। जैसा ऊपर कहा, एक कोटि पर चित्त अतःकरण बहिष्करण आदि, दूसरी

---

[1] To know every thing of something, and something ot every thing is culture.

[2] इसी से फ़िलासोफ़ी आफ़ ला (धर्म-क़ानून), फ़िलासोफ़ी आफ़ आर्ट (ललित कला), फ़िलासोफ़ी आफ़ हिस्ट्री (इतिहास), इत्यादि नाम से भी ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं।

कोटि पर महाभूत और उनके गुण, एक ओर साइकालोजी-फ़िजियालोजी, दूसरी ओर केमिस्ट्री-फ़िज़िक्स; दोनों का संग्रह करने वाली मेटाफ़िज़िक। वही योग वासिष्ठ की बात, जीव और कर्म दोनों का संग्रह ब्रह्म परमात्मा में।

यदि सामूहिक रूप से सब को दर्शन शास्त्र कहें तो, ग्रंथों के विशेष विषयों की दृष्टि से, ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या, परा विद्या, का पर्याय अंग्रेज़ी भाषा में मेटाफ़िज़िक हो सकता है। तथा अध्यात्मविद्या, चित्तविद्या, अन्तःकरण शास्त्र का साइकालोजी; तर्क शास्त्र अथवा न्याय का लाजिक; आचार शास्त्र वा धर्म मीमाँसा का एथिक; कला शास्त्र का ईस्थेटिक।[1]

वेद-पुरुष के अंगोपांग

कुछ दशाब्दियों तक यूरोप में विशेष विशेष शास्त्रों के विकासकों में वैयक्तिक बुद्धिमत्ता के अभिमान से, अहंयुता से, तथा देशीय जातीय अभिमान से[2], यह भाव कुछ कुछ था, कि मेरा शास्त्र सत्य और उत्तम तथा अन्य शास्त्र वृथा और मिथ्या[3]। संग्रह पर आग्रह नहीं, विग्रह पर बहुत; समन्वय का भाव नहीं, विपर्यय का बहुत; सम्मेलन, आश्लेषण, संयोजन, मंडन, रंजन की इच्छा नहीं, दृष्टि नहीं, विभेदन, विश्लेषण, वियोजन, खंडन, भंजन की बहुत; इत्तिहाद, इत्तिसाल, इन्तिबाक़ की ख़्वाहिश नहीं, नीयत नहीं, इन्फ़िराक़, इन्फ़िसाल, इम्तियाज़ की बहुत। पर अब ज्ञान के विस्तार के साथ साथ इस का प्रतिपक्षी भाव भी फैलता जाता है,कि "दो सायंसेज़ और मेनी, सायंस इज़वन"[4], विशेष विशेष

---

[1] अब हिंदी साहित्य में "मनोविज्ञान" नाम साइकालोजी के लिये लिखा जाने लगा है। बुरा नहीं है, शब्दतः अर्थतः ठीक भी हैं, पर शास्त्रांत या विद्यांत नाम भारतीय परिपाटी और संस्कृत भाषा की शैली के अधिक अनुकूल होता है। ऊपर इस शास्त्र के लिये अध्यात्मविद्या नाम लिखा गया है और आत्मविद्या वा ब्रह्मविद्या मेटाफ़िज़िक के अर्थ में। पर प्रायः प्रचलित संस्कृत ग्रंथों में अध्यात्मविद्या और आत्मविद्या में विवेक नहीं किया जाता, दोनों का अर्थ ब्रह्मविद्या समझा जाता है, क्योंकि दोनों के विषय मिले हैं।

[2] Scientific Chauvinism, यह एक आंग्ल वैज्ञानिक का ही शब्द है।

[3] जैसा भारत में, शैव, शाक्त, वैष्णव, आदि, द्वैती, अद्वैती, विशिष्टाद्वैती, शुद्धाद्वैती, द्वैताद्वैती आदि, नैय्यायिक, मीमांसक, वेदान्ती, पांचरात्र आदि, में अब भी देख पड़ता है।

[4] Though sciences are many, Science is one. "समन्वय" नाम ग्रंथ में विविध विषयों पर विभिन्न मतों के विरोध का परिहार करने का यत्न मैंने किया है।

शास्त्र चाहे अनेक हों पर शास्त्रसामान्य एक ही है, अर्थात् सब शास्त्र एक ही महाशास्त्र के, वेद के, अङ्गोपांग शाखा-प्रशाखा हैं। पूर्वाध्याय में सांख्य मत के संबंध में जैसा कहा, "एकमेव दर्शनम् ख्यातिरेव दर्शनम्"। प्रत्यक्ष है, जब प्रकृति, नेचर, एक है, तो उसका वर्णक शास्त्र भी एक ही होगा। संसार के एक एक विशेष अंश, अंग, पहलू, पार्श्व अवस्था को अलग अलग लेकर, उनका दर्शन अलग अलग ग्रंथों में कर देने से, प्रकृति में, और उसके शास्त्र में, आभ्यंतर आत्यंतिक भेद तो उत्पन्न हो नहीं जायगा; केवल "वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः", यही ब्रह्म-सूत्र पुनरपि चरितार्थ और उदाहृत होगा। किसी विशेष अंश पर विशेष दृष्टिहोने से विशेष नाम पड़ जाता है,। जैसे, जिस वस्तु से लिख रहा हूँ कई द्रव्यों से बनी है, पर नाम उसका लेखनी पड़ा है। क्योंकि उसके मुख्य प्रयोजन और कार्य लिखने पर ही दृष्टि है। अन्यथा, सब शास्त्र एक ही शास्त्र के अङ्ग हैं।[1]

भारत की तो पुरानी प्रथा है, 'एक एव पुरा वेदः' और सब विद्या उसी के उपवेद और अङ्गोपांग हैं। इसको दिखाने के लिए समग्र ज्ञान-शरीर का रूपक भी बांध दिया है।

> छंदः पादौ तु वेदस्य हस्तः कल्पोऽथ पठ्यते।
> मुखं व्याकरणं प्रोक्तं निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
> शिक्षा च नासिका तस्य ज्योतिषं नयनं स्मृतम्॥

इसमें कुछ और पाद जोड़ दिये जांय तो तस्वीर स्यात् पूरी हो जाय, यथा,

> आयुर्वेदोऽस्य नाभिस्तु गांधर्वं कंठ ईयते।
> धनुर्वेदस्तु बाहुः स्यादर्थशास्त्रं तथोदरम्॥
> शिल्पमूरुस्तथा मध्यं कामशास्त्रं तु कथ्यते।
> आधिभौतिकशास्त्राणि देहनिर्मातृधातवः।
> तथाधिदैविकान्यस्य प्राणाः स्पंदनहेतवः॥
> हृद् राजधर्मः सर्वेषां धारकं प्रेरकं तथा।
> अध्यात्मशास्त्रं मूर्धा चाप्यखिलानां नियामकम्॥

जिस रीति से फ़िलासोफ़ी के भीतर पांच शास्त्रों का विवेक पाश्चात्य विचार में किया है, ठीक उस रीति से भारतीय विचार में नहीं किया है। पारस्त्य

[1] इस विषय पर, "पुरुषार्थ" नाम के ग्रंथ के प्रथम अध्याय में, और विशेष कर पृष्ठ ६०-६५ में, मैंने विस्तार से विचार करने का यत्न किया है।

दर्शन शास्त्र में सब प्रायः एक साथ बंधे मिलते हैं। तो भी प्राधान्यतः केमिस्ट्री और फिजिक्स के दार्शनिक अंश की विशेष रूप से चर्चा वैशेषिक सूत्रों में; लाजिक की न्याय सूत्रों में; साइकालोजी की सांख्य और योग सूत्रों में; एथिक्स की पूर्व (धर्म) मीमांसा में; मेटाफिज़िक की उत्तर (ब्रह्म) मीमांसा में, की है। ईस्थेटिक का विषय साहित्य शास्त्र और कामशास्त्र में रख दिया गया है। मेटाफिज़िक को पहले पच्छिम मे आंटालोजी भी कहा करते थे, पर अब इस शब्द का व्यवहार कम हो गया है। जैसा पहिले कहा, मेटा शब्द का अर्थ ग्रीक भाषा में पीछे, परे, का है, और फिजिस, प्रकृति, दृश्य। जो दृश्य प्रकृति से अतीत है, परे है, उसके प्रतिपादक शास्त्र का नाम मेटाफिज़िक। ब्रह्मविद्या का यह पर्याय ठीक ही है। पश्चिम में सायंस अर्थात् शास्त्र पदार्थ के प्रायः दो लक्षण प्रथित हैं; एक तो, "सायंस इज़ आर्गेनाइज़ड् सिस्टेमाटाइज़ड् नालेज"[१], ज्ञान के खंडों का, खड-ज्ञानों का, परस्पर संग्रथित, कार्य-कारण की परम्परा के सूत्र से सम्बद्ध, व्यूह, —यह शास्त्र है; दूसरा, "सायंस इज़ दी सीइङ् आफ़ सिमिलारिटी इन डाइवर्सिटी",[२] विविध पदार्थों में, वैदृश्य के साथ सादृश्य, वैधर्म्य के साथ साधर्म्य, व्यक्ति के साथ जाति, विशेष के साथ सामान्य, को देखना —यह शास्त्र है। यह कथा यदि आधिभौतिक शास्त्रों की है, जो परिमित, सादि, सान्त, काल-देश-निमित्तावच्छिन्न, नश्वर पदार्थों की चर्चा करते हैं, "दी सायंसेज़ आफ़ दी फ़ाइनाइट"[३], तो अध्यात्म शास्त्र का, जो अनादि अनंत अपरिमित देशकालावस्थाऽऽतीत नित्य पदार्थ का प्रतिपादन करता है, लक्षण यों करना उचित होगा, कि, वह "कम्प्लीट्ली यूनिफ़ाइड् नालेज" और "सीइङ् आफ़ यूनिटी इन मल्टिप्लिसिटी"[४] है, अर्थात् समस्त ज्ञानों का एक

---

[१] Science is organised, systematised, knowledge; ग्रथितः ग्रन्थः, कारण और कार्य के सम्बन्ध रूपी, हेतु और फल के सम्बन्ध रूपी, सूत्र से विचारों का ग्रन्थन, तथा लिखित पत्रों का सूत्र से ग्रन्थन, जिसमें किया जाय, वह ग्रन्थ।

[२] Science is the seeing of Similarity in Diversity.

साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानात्। वैशेषिक सूत्र, १-१-४.

[३] The Sciences of the Finite.

[४] Completely unified knowledge; the seeing of Unity in Multiplicity.

सूत्र में संग्रथन, एक व्यूह मे व्यूहन, अथ च सब अनेकों में एकता का दर्शन, है। इसी अर्थ को भगवद्गीता का पूर्वोद्धृत श्लोक प्रकट करता है, अर्थात् भूतों के गणनातीत पृथक्त्व को एकस्थ, और उसी एक से संख्यातीत पृथग् भूतों का विस्तार, जब जीव पहिचानता है तब ब्रह्म सम्पन्न हो जाता है।

ऐसे विचारों की ज्यों ज्यों यूरोप में वृद्धि होती जाती हैं, त्यों त्यों फ़िलासोफ़ी और सायंस में जो संबंध का सर्वथा विच्छेद होने लग गया था, वह क्रमशः मिटता जाता है, और इनका परस्पर संबंध अधिकाधिक माना जाने लगा है। ढाई तीन सौ वर्ष पहिले, न्यूटन, लामार्क, आदि विद्वानों ने, अपने गणित, ज्योतिष, जन्तु शास्त्र, आदि के ग्रंथों को नैचुरल फ़िलासोफ़ी, ज़ूओलाजिकल फ़िलासोफ़ी[१], के नाम से पुकारा, और पचीस तीस वर्ष पहिले तक नैचुरल फ़िलासोफ़ी नाम का एक ग्रंथ, फ़रांसीसी विद्वान् डेशानल का, उन विषयों पर जिनके लिये अब फ़िज़िक्स शब्द कहा जाता है, विद्यालयों में पढ़ाया जाता था। अब ऐसे शास्त्रों के लिये सायंस शब्द प्रयोग किया जाता है, जिस शब्द का प्रत्यक्त रूप तथा मूल, लैटिन भाषा का धातु, संस्कृत शास्, शंस्, से मिलता है। और साथ ही साथ, फ़िलासोफ़ी का लक्षण, उसकी परिभाषा, ऐसे शब्दों में की जाने लगी है, यथा, शास्त्रों का शास्त्र, सर्वसंग्राहक शास्त्र, सर्वव्यापक शास्त्र, सर्व-समन्वय, सर्वशास्त्रसार, व्यापकतम शास्त्र, और विशेष कर मानव जीवन संबंधी प्रश्नों का शास्त्र, इत्यादि।[२]

मुख्य और गौण प्रयोजनों का संबंध

ऐसे विचारों से इस प्रश्न का उत्तर हो जाता है कि दर्शन के उप-प्रयोजन क्या हैं, और उनका प्रधान प्रयोजन से संबंध क्या है।

दुःख का समूल नाश कैसे हो, परमानंद कैसे मिले, इसकी खोज में दुःख और सुख के स्वरूप का, और उनके कारण का, पता लगाना पड़ता है। आत्म-वशता ही सुख, और परवशता ही दुःख, यह जाना। परवशता का हेतु क्या है? द्रष्टा का, आत्मा का, दृश्य से, प्रकृति से, देह से,

---

[१] Natural philosophy; Zoological philosophy.

[२] The Science of the Sciences; the sum of all the Sciences; Universal Science; the Synthesis of all Sciences; the Quintessence of all Sciences; the Science of the widest problems in all fields; and of those which affect Mankind most closely: Alexander Herzberg, *The Psychology of Philosophers*, pp. 9, 10, 11, 12, 13, (pub. 1929).

वासना-कृत, अज्ञान-कृत, संयोग। यह संयोग कैसे मिटे ? द्रष्टा और दृश्य का ठीक ठीक तात्त्विक स्वरूप जाननेसे। दृश्य के अन्वीक्षण में अनित्य पदार्थ संबंधी सब शास्त्र, जिनका सामूहिक, सामान्य, नाम अपरा विद्या है, आ गये। इन सब की जड़ गहिरी जाकर परा विद्या में ही मिलती है। कोई भी शास्त्र ले लीजिये। रेखा गणित का आरंभ इस परिभाषा से होता है कि बिंदु वह पदार्थ है जिसका स्थान तो है किंतु परिमाण नहीं। ऐसा पदार्थ कभी किसी ने चर्मचक्षु से तो देखा नहीं। इसका तत्त्व क्या है, इसका पता रेखा गणित से नहीं लगेगा, किंतु आन्वीक्षिकी से; जीव, अहं, मै, ही ऐसा पदार्थ है जिसका स्थान तो है, जहाँ ही 'मैं हूँ' वहाँ ही है, लेकिन इस "मै" का परिमाण नहीं ही नापा जा सकता। अंक गणित का आरंभ "एक" संख्या से है; कभी किसी ने शुद्ध "एक" को देखा नहीं। यह मकान जिसके भीतर बैठ कर लिख रहा हूँ, एक तो है, पर साथ ही अनेक भी है, लाखों ईंट, सैकड़ों पत्थर, बीसियों दरवाजे खिरकी, बीसियों लोहे की धरनें, वग़ैरा वग़ैरा मिल कर बना है। तो इसको एक कहना ठीक है या अनेक ? इसका तत्त्व, कि संख्या क्या पदार्थ है, अंक गणित नहीं बताता, दर्शन शास्त्र बताता है; अहं, मै, ही तो सदा एक है, अ-द्वैत है, ला-सानी है; अनहं, एतत्, "यह" ही अनेक है। शक्ति गणित, डाइनामिक्स[1], का मुख्य पदार्थ शक्ति है, पर शक्ति क्या है, क्यों है, कैसे है, इसका हाल वह शास्त्र स्वयं कुछ नहीं बताता, आत्मविद्या बताती है कि "इच्छा" ही "शक्ति" है। रसायन शास्त्र, केमिस्ट्री[2], के मूल पदार्थ परमाणु, अणु, द्व्यणुक, त्रसरेणु, आदि हैं, पर अणु क्या है, क्यों है, कैसे है, इसका हाल ब्रह्मविद्या से ही पूछना पड़ता है। जंतु शास्त्र, शरीर शास्त्र, बायालोजी, फिसियालोजी[3] में प्राण पदार्थ क्या है, क्यों इतने जीव जंतुओं के भेद होते हैं, इत्यादि प्रश्नों का उत्तर परा विद्या में ही है। सृष्टि में आरोह-अवारोह, विकास-संकोच, मानव जाति के इतिहास में जातियों का उदय-अस्त, मनुष्य जीवन में जन्म-वृद्धि-ह्रास-मरण, क्यों होते हैं, इसका उत्तर अध्यात्मविद्या से ही मिलता है। नीति शास्त्र, धर्म शास्त्र में, पुण्य पाप का वर्णन है, पर क्यों पुण्य का फल सुख और पाप का दुःख, यह ब्रह्मविद्या ही कहती है। चित्तशास्त्र में यह वर्णन तो किया जाता है कि चित्त की वृत्तियाँ ऐसी ऐसी होती हैं, पर क्यों ज्ञान-इच्छा-क्रिया होती हैं, क्यों राग-द्वेष होते हैं, क्यों सुख-दुःख होते हैं, इसका उत्तर आत्म-विद्या से ही मिलता है। अनुमान का रूप और प्रकार

---

[1] Dynamics. [2] Chemistry. [3] Biology, Physiology

तो न्याय बताता है। पर व्याप्तिग्रह क्यों होता है, इसके रहस्य का पता वेदांत से ही चलता है। काव्य साहित्य में रस पदार्थ, अलंकार पदार्थ, आनन्द पदार्थ का तत्त्व क्या है, यह आत्म विद्या ही बतलाती है।

ज्योतिष में, बासूटो मनुष्य के और वैदिक ऋषि के प्रश्न का उत्तर, कि किसने इन तारों को आकाश में चपकाया, प्रज्ञान से ही मिलता है, विज्ञान से नहीं। बासूटो मनुष्य का अनुभव हम लोग देख चुके हैं; अपने मन में उठते हुए प्रश्नों का उत्तर न दे सकने के कारण वह विषाद में पड़ गया; उसको अपनी निर्बलता का अनुभव होने लगा। अंधकार में भय होता है, न जाने क्या जोखिम छिपी हो। जिसी अंश का ज्ञान नहीं, उसी अंश में विवशता, परतंत्रता, भय। बिना संपूर्ण के ज्ञान के किसी एक अंश का भी ठीक ज्ञान नहीं, और बिना सब अंशों के ज्ञान के सम्पूर्ण का ज्ञान नहीं; ऐसा अन्योऽन्याश्रय परा विद्या और अपरा विद्या का, दी सांयस आफ दी इनफिनिट और दी सायंसेज आफ दी फाइनाइट [1] का, है। जैसे अनंत में सभी सान्त अंतर्गत है, वैसे ही परा विद्या में सभी अपरा विद्या अंतर्भूत हैं। कारणं कारणानां का प्रतिपादक शास्त्र भी शास्त्रं शास्त्राणां, अध्यात्मविद्या विद्यानाम्, है। इस एक के जानने से सब कुछ, मूलतः, तत्त्वतः, जाना जाता है, जैसा उपनिषद् के ऋषि ने कहा। साथ ही इसके यह भी है, कि जब अन्य सब कुछ, सामान्यतः, जान ले, तभी इस एक के जानने का अधिकारी भी, ज्ञातुं इच्छु भी और ज्ञातुं शक्त भी होता है। यह अन्योऽन्याश्रय है। इस ग्रन्थ के आदि में उपनिषत् की कथा कही है, कि समग्र अपरा विद्या जान कर तब नारद ने सनत्कुमार से परा विद्या सीखी। एक से अनेक जाना जाता है और अनेक से एक। कस्रत दर वहदत और वहदत दर कस्रत, दोनों का तअरुफ़ हो, तब मारिफ़त, इर्फ़ान, हक़, मुकम्मल हो, ब्रह्म सम्पन्न हो। इसी लिये गीता में, अर्जुन को केवल इतना समझा देने के लिये कि "युध्यस्व", कृष्ण को, "तस्मात्" सिद्ध करने के लिये सभी शास्त्रों की बातें संक्षेप से कहना पड़ गया। तुम्हारा कर्त्तव्य धर्म यह है; क्योंकि मानव समाज में तुम्हारा स्थान और दूसरों के साथ आदेय-देय संबंध, परस्पर कर्त्तव्य सम्बन्ध, ऐसा है; क्योंकि साम्प्रत मानव समाज, पुरुष की प्रकृति अर्थात् स्वभाव से प्रभूत त्रिगुणों के अनुसार कर्म का विभाग करने से, चातुर्वर्ण्यात्मक और चातुराश्रम्यात्मक है, और तुम अमुक वर्ण और आश्रम में हो; क्योंकि यह मानव समाज, सृष्टि के क्रम में, पुराण इतिहास में वर्णित व्यवस्था से, ऐसी ऐसी मन्वंतर और

---

[1] The Science of the Infinite; the Sciences of the Finite.

वंशानुचरित की भूमि, कक्षा, काष्ठा, (स्टेज आफ़ इवोल्यूशन)[1] पर पहुँचा है; क्योंकि सृष्टि का स्वरूप ऐसा ऐसा संचर-प्रतिसंचर, प्रसव-प्रतिप्रसव, के आकार प्रकार का है; क्योंकि परम आत्मा, परम पुरुष, की प्रकृति का रूप ही ऐसा है। बिना जड़ मूल तक, आख़िरी तह तक, पहुँचे, बिना "गोइङ् टु दी रूट आफ़ दी मैटर[2]", बिना कारणं कारणानां के जाने, कुछ भी स्थिर रूप से जाना नहीं जाता, निश्चित नहीं होता। किसी एक भी जुज़्व का मक़सद जानने के लिये कुल का मतलब जानना लाज़िमी है; ऐसे ही कुल का मतलब समझने के लिये हर एक जुज़्व का मक़सद जानना ज़रूरी है।[3]

निष्कर्ष यह है कि दर्शन शास्त्र, आत्मविद्या, आन्वीक्षिकी, सब शास्त्रों का शास्त्र, सब विद्याओं का प्रदीप, सब व्यावहारिक सत्कर्मों का भी उपाय, दुष्कर्मों का अपाय, और नैष्कर्म्य अर्थात् अफल-प्रेप्सु कर्म का साधक, और इसी कारण से सब सद्धर्मों का आश्रय, और अंततः समूल दुःख से मोक्ष देने वाली है—क्योंकि सब पदार्थों के मूल हेतु को, आत्मा के स्वभाव को, पुरुष की प्रकृति को, बताती है, और आत्मा का, जीवात्मा का, परमात्मा का, तथा दोनो की एकता का, तौहीद का, दर्शन कराती है।

> प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणां।
> आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता ॥
> ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
> स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥

द्वे विद्ये वेदितव्ये, परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छंदो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। (यस्मिन्) विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति। (मुंडक-उपनिषत्)

> विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं स ह।
> अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ (ईश)
>
> यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
> तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
> नांतोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।

---

[1] Stage of evolution. [2] Going to the root of the matter.

[3] पृ॰ ८३—८४ पर सूचित विषयों का विस्तार अंग्रेज़ी भाषा में लिखे मेरे ग्रन्थों में किया है; विशेष करके, The Science of Peace, The Science of the Emotions, The Science of Social Organisation में; संक्षेप से, हिन्दी भाषा में लिखे "समन्वय" में।

एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।
प्राधान्यतः, कुरुश्रेष्ठ, नास्त्यंतो विस्तरस्य मे॥

(गीता)

आत्मा और अनात्मा और उनके (निषेधात्मक, "न इति", "न इति") सम्बन्ध के सम्यग्दर्शन से, सम्यक्ज्ञान से, ही, चारो पुरुषार्थ उचित रीति से सम्पन्न हो सकते हैं। धर्म-अर्थ-काम, तीन पुरुषार्थ सांसारिक प्रवृत्ति मार्ग के; मोक्ष, परम पुरुषार्थ, संसारातीत निवृत्ति मार्ग का। ऋषिऋण-पितृ-ऋण-देव-ऋण, तीन ऋणों को, क्रमशः तीन आश्रमों में, ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ्य-वानप्रस्थ्य में, अध्ययन-अपत्यपालन-दानयजन के द्वारा चुकाकर, और साथ साथ धर्म-अर्थ-काम को साधकर, चौथे आश्रम, संन्यास, में, मोक्ष को सिद्ध करै। अन्यथा, बिना ऋण चुकाये, मोक्ष की इच्छा करने से, अधिक बंधन में पड़ता है; ऊपर उठने के स्थान में नीचे गिरता है। चौथे आश्रम में आत्मा की सर्वव्यापकता ठीक ठीक पहिचानी जाती है। ऐसे सम्यग्दर्शन से सब स्वार्थी वासना और कर्म क्षीण हो जाते हैं, और मनुष्य, आत्मा को सब में, और सब को आत्मा में, पहिचान कर, सच्चे स्वाराज्य को पाता है।

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य तान्येव मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः॥
उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः।
ध्यानयोगेन सम्पश्येद् गतिमस्यांतरात्मनः॥
विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगं च तथाऽप्रियैः।
चिंतयेच्च गतिं सूक्ष्मामात्मनः सर्वदेहिषु॥
सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते॥
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं सपश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥

(मनु)

॥ ॐ ॥

अध्याय ३

दर्शन की सामाजिक विश्वजनीनता

सांसारिक-दुःख-बाधन और सांसारिक-सुख-साधन

(काम्युनिस्ट) साम्यवाद और (साइको-आनालिटिक) कामीयवाद का अध्यात्मवाद से परिमार्जन

यह पहले कहा जा चुका है कि वेदांत शास्त्र खाली और बेकार वक्त का खेल नहीं है; केवल विरक्त सन्यासी, त्यागी, तारिकुद्दुनियाँ, गोशानशीन, फ़कीर ही के काम की चीज़ नहीं है; केवल ब्रह्मानंद का, लज़्ज़तुल् इलाहिया का, ही साधक नहीं है; बल्कि दुनियावी मामिलात में भी निहायत ज़रूरी मदद देता है; दुनिया और आक़बत, इहलोक और परलोक, दोनों के बनाने का तरीक़ा बतलाता है; इन्सान की जिन्दगी की सब तकलीफों को दूर करने, सब मुनासिब आरामों को हासिल करने, सब मसलों को हल करने, सब प्रश्नों का उत्तर देने, का रास्ता दिखाता है।

इस मज़मून (विषय) पर, तफ़सील (विस्तार) से लिखने का मौक़ा (अवसर) यहाँ नहीं है। थोड़े में सिर्फ़ इशारा (सूचना) कर देना काफ़ी (पर्याप्त) होगा।

पुरुष अर्थात् जीवात्मा-परमात्मा की प्रकृति, (इन्सान यानी रूह-रूहुलरूह की फ़ितूरत), में तीन गुण (सिफ़ात) हैं—सत्त्व, रजस्, तमस् (इल्म, वुजूद, शुहूद)। इन्हीं के रूपांतर नामांतर (दूसरी शक्ल और नाम) ज्ञान-क्रिया-इच्छा (इल्म-फ़ेल-ख्वाहिश) हैं। इन तीन से तीन फ़ितूरतें आदमियों में देख पड़ती हैं, और एक चौथी फ़ितूरत वह जिसमें तीन में से कोई एक फ़ितूरत ख़ास तौर से नुमायाँ (विकसित, व्यक्त) नहीं हुई हैं। इन चार इन्सानी क़िस्मों, तबीयतों, की बिना (नीवी, बुनियाद) पर चार वर्णों, पेशों, की व्यवस्था (तन्ज़ीम) भारतवर्ष में की गई। जैसा गीता में कहा है,

> चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
> कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥

इन चार वर्णों के नाम संस्कृत में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कहे हैं। ब्रह्म, वेद, ज्ञान का धारण करने वाला, ज्ञानप्रधान जीव, ब्राह्मण; क्षत से, चोट से, दुर्बलों का त्राण, रक्षा, करने वाला, क्रियाप्रधान जीव, क्षत्रिय; विशति भूमौ, विशः च धारयति, भूमि की खेती करने कराने वाला और धन का रखनेवाला, इच्छाप्रधान जीव, वैश्य; आशु द्रवति, बड़ों की आज्ञा से दौड़ कर तुरत काम कर देने वाला, अव्यक्तबुद्धि जीव, शूद्र। स्यात् अच्छा हो कि नये नामों का अधिक प्रयोग किया जाय, यथा, ज्ञानी, शूर, दानी, सहायक; ज्ञाता, त्राता, दाता, सहेता; शिक्षक, रक्षक, पोषक, सेवक; शास्त्री, शस्त्री, धनी, श्रमी; या ऐसे ही कोई और अर्थपूर्ण (मानीदार नाम, प्रत्येक मनुष्य की विशेष प्रकृति के द्योतक (ज़ाहिर करने वाले)। अरबी फ़ारसी मे, आलिम, आमिल, ताजिर, मज़दूर; या हकीम, हाकिम, मालदार, मिहनत-कश, वग़ैरह। नये नामों की इस लिये ज़रूरत है कि पुराने नाम निहायत बा-मानी (अर्थ-गर्भ) होते हुए भी अब बे-मानी (अर्थ-शून्य), बल्कि बदमानी (अनर्थकारी), हो रहे हैं। चारो तरफ़ जीर्णोद्धार और नवीकरण (मरम्मत व तजद्दुद) की ज़रूरत है।

ऐसे ही, मनुष्य की आयु (उमर) के चार विभाग (हिस्से) निसर्गतः (क़ुद्रतन) होते हैं। पहिले में, अपनी योग्यता (लियाक़त) के अनुसार (मुताबिक़) ज्ञान और सदाचार (इल्म व तहज़ीब) सीखना चाहिए। तन और मन को बलवान् मज़बूत बनाना चाहिए। दूसरे में, गृहस्थी (ख़ाना-दारी) और रोज़गार (जीविका कर्म) करना चाहिए। तीसरे में, रोज़गार से कनाराकशी और बिला मुआविज़ा, बेग़रज़ (निष्काम, बिना फलाकांक्षा), ख़िदमते ख़ल्क़ (लोकसेवा) करना चाहिए; अन्तकाल तक हिर्सी, लोभी, बना रहना नहीं चाहिए। चौथे में, जब जिस्म और दमाग़ दोनों बहुत थकैं, तब सर्वथा (बिल्कुल) संन्यासी फ़क़ीर होकर, परमात्मा के ध्यान में, सब का भला मनाने में, और केवल शारीर कर्म में (ऐन ज़ुरूरी हाजाते जिस्मानी के रफ़ा में) सारा समय बिताना चाहिए, जब तक शरीर के बन्धन (असीरी) से मोक्ष (नजात) न पावै। इस व्यवस्था (नज़्म) को चतुराश्रम-व्यवस्था कहते हैं।

इन चार वर्णों और चार आश्रमों में, सब मनुष्यों के सब कर्म-धर्म, अधिकार-कर्त्तव्य, हुक़ूक़-फ़रायज़ काम-दाम, मिहनत-आराम, अध्यात्म विद्या (इल्मि रूह) के सिद्धांतों (उसूल) के अनुसार (मुताबिक़) प्राचीन समय में, भारत (हिन्दुस्तान) में, बाँट दिये गए थे। और ऐसा कर देने से वह सब प्रश्न (सवाल, मसले) शिक्षा, रक्षा, भिक्षा (तालीम, तहफ़्फ़ुज़, तआम) के सम्बन्ध (तअल्लुक़) में, उत्तीर्ण (हल) हो जाते थे,

जो आज सारे मानव संसार (इन्सानी दुनियां) को व्याकुल और उद्विग्न कर रहे हैं, और सिर्फ इस वजह (हेतु) से हैरान व परीशान कर रहे हैं कि अध्यात्म विद्या के उन सिद्धांतों को विद्वानों और शासकों ने, हकीमों और हाकिमों ने, शास्त्रियों और शस्त्रियों ने, आलिमों और आमिलों ने, भुला दिया है, और उनसे काम नहीं लेते, बल्कि दुनियावी हिर्स व तमा के ख़ुद ग़ुलाम हो कर उन उसूल के ख़िलाफ़ काम करते हैं, और अवाम (साधारण जनता) को भारी ईज़ा और नुक़सान (पीड़ा और हानि) पहुँचा रहे हैं, और उनको अपना ग़ुलाम बना रहे हैं।

आजकाल पश्चिम मग्रिब में दो विचारधाराओं (ख़याल के दरियाओं) का प्रवाह (बहाव) बहुत बलवान् (ज़ोरदार) हो रहा है, इसलिए उनकी चर्चा (ज़िक्र) यहां कर देना, और उनकी जांच सरसरी तौर पर (आपाततः) वेदांत की दृष्टि (निगाह) से कर देना, मुनासिब (उचित) जान पड़ता है। एक ख़याल का सिलसिला मार्क्स और उनके अनुयायियों का है, जिसको सोशलिज़्म-कम्युनिज़्म, समाजवाद-साम्यवाद, कहते हैं, और जिसमें अवांतर मतभेद बहुत हैं; दूसरी विचारधारा, फ़्राइड और उनके पैरवों की है, जिसको सैको-आनालिसिस कहते हैं, जिसमें भी ज़िमूनी इख़्तिलाफ़ात बहुत हैं। इन दोनों की ओर जनता की प्रवृत्ति (रुझान) इस लिए है, कि मार्क्स आदि के विचार यह आशा दिलाते हैं कि यदि इस इस प्रकार से समाज का प्रबंध (बन्दोबस्त) किया जाय तो सब आदमियों को आवश्यक अन्न वस्त्र और परिग्रह (ज़रूरी खाना कपड़ा व माल-मता) मिल सकता है; और फ़्राइड वग़ैरह के ख़याल यह उम्मीद दिलाते हैं कि अगर यह यह तरीक़े बर्ते जायँ तो दाम्पत्य-संबंधी, मैथुन्य-विषयक, कामीय (शहवत या इश्क़ से मुतअल्लिक़) इच्छा के व्याघात (ख़्वाहिशों की शिकस्त) से जो दुःख और रोग पैदा होते हैं वह पैदा न हों, या दूर हो जायँ, या कम से कम हल्के हो जायँ। "साइको-आनालिसिस" शब्द का, व्युत्पत्ति से अर्थ, यौगिक अर्थ, धात्वर्थ (मसदरी मानी), तो "चित्त-वृत्ति-विवेचन" (इम्तियाज़ि-हरकाति-तबअ) है। पर इसके उपज्ञाता (मूजिद) फ़्राइड ने जो रूप इसको दिया है, जैसा ऊपर कहा, उसके विचार (लिहाज़) से, "कामीयवाद" शब्द इसके लिये हिंदुस्तानी भाषा में उचित (मौज़ूँ) जान पड़ता है।

स्पष्ट (ज़ाहिर) है कि आदमी की तीन एषणा, वासना, तृष्णा (हिर्स, तमअ) मुख्य (ख़ास, अह्म) हैं, लोकैषणा वा आहारेच्छा, वित्तैषणा वा धनेच्छा, दारसुतैषणा वा रतीच्छा, (ज़मीन की ख़्वाहिश जिससे ग़िज़ा हासिल होती है, ज़र की, ज़न की)। इन्सानी ज़िन्दगी की जितनी

कठिनाइयां (मुश्किलें) हैं, वह सब इन्हीं तीन के सम्बन्ध में पैदा होती हैं। गूहन, गोपन, छिपाव रहस्य (पोशीदगी, एख़फ़ा, राज़दारी, "सीक्रीटिवनेस") इन्ही के सम्बन्ध में होता है। इनको सहल (सरल) करने का उपाय जो बतावै, उसकी ओर ख्वाहमख्वाह लोग झुकेंगे।

लेकिन इन दोनों दलों (तबक़ों) ने, ऊपर कही इन्सान की चार फ़ितरतों और किस्मों को, नहीं जाना माना है; अपने अपने स्कीम, सिस्टेम, नज़्म, व्यवस्था में उनका लिहाज़ नहीं किया है; न ज़िन्दगी के चार हिस्सों से ही काम लिया है। इसका नतीजा यह है कि दोनों में से हर एक के अंदर बहुत विवाद, तनाज़ा, खड़ा हो गया है; और दोनों के दो मूजिदों ने, उपज्ञाताओं ने, यानी मार्क्स और फ़्रायड ने, जो उम्मीदें बाँधी थीं वह पूरी नहीं हो रही हैं। प्रत्युत (बर अक्स इसके), भारत में हज़ारों वर्ष से चातुर्वर्ण्य और चातुराश्रम्य की व्यवस्था चली आ रही है, क्योंकि इनके आध्यात्मिक सिद्धांतों की नीवी पर अब भी कुछ न कुछ ध्यान बना है, यद्यपि (अगरचि) वह ध्यान बहुत अस्त व्यस्त (मुन्तशिर) हो गया है, और इस हेतु (वजह) से भारी दोष, दुर्दशा, परवशता (नुक़्स, फ़जीहत, ग़ुलामी) यहाँ उत्पन्न हो गई हैं। यदि उन सिद्धान्तों पर उचित रीति से ध्यान दिया जाय, और सात्त्विक-राजस-तामस प्रकृतियों के भेद (तफ़्रीक़, तमीज़) के अनुसार तीन प्रकार के आहार (ग़िज़ा) का (जो गीता में कहे हैं), चार तरह की जीविकाओं (मआशों) का (जो मनुस्मृति में कही हैं), तथा आठ प्रकार के विवाहों (निकाहों, इज़दिवाजों) का (जो भी मनुस्मृति में कहे हैं) प्रबन्ध किया जाय, और विशेष दशाओं (ख़ास सूरतों) में, कामशास्त्र में और आयुर्वेद में (जो भी वेद के अङ्ग हैं) कहे हुए उपायों से काम लिया जाय, तो अन्न-वस्त्र सम्बन्धी, परिग्रह सम्बन्धी, तथा कामवासना सम्बन्धी, सभी क्लेशों (दिक्क़तों) की चिकित्सा (इलाज) ठीक-ठीक, जहाँ तक मनुष्य का वश (इन्सान का क़ाबू) चल सकता है, हो जाय।

फ़्राइड आदि का शुरू से कहना था कि, नाड़ी सम्प्रदाय (नर्वस सिस्टेम) के बहुतेरे विकार (न्यूरोसिस) किसी न किसी प्रकार के काम-सन्ताप से उत्पन्न होते हैं; रोगी उस कारण (सबब) को अपनी संज्ञा (होश, 'कान्शसनेस') से दबा, हटा, भुला देता है, क्योंकि उनकी स्मृति (याद) पीड़ाजनक (तकलीफ़दिह) होती है; बीमारी के कारण को कुछ दूसरा ही समझने मानने लगता है, पर यदि चिकित्सक (तबीब) मित्र भाव से, बरस दो बरस तक उससे रोज़ाना बात करता है, पारस्परिक श्रद्धा और स्नेह (बाहमी

एतबार व मुहब्बत)[1] उत्पन्न करै, और विविध रीतियों (खास तरीकों) से (जिस 'टेक्नीक' को फ्राइड ने ईजाद किया है) उस भूली दबी स्मृति को

[1] इस सम्बन्ध में साइको आनालिसिस के शास्त्रियों ने Transference और Perfect candour, perfect trust, शब्दों का प्रयोग किया है।

"In the course of analytical treatment......the patient unconsciously transmits, to the analyst-physician, the emotions he has felt in times past for this or that person. The analyst becomes in turn the father, the sister, the lover, the nurse ; and on to him is projected the patient's corresponding mood of rebellion, irritation, unsatisfied desire, jealousy, child-like dependence and the like. This is the transference, to the analyst, of unsatisfied emotion left over from some earlier experience ; and present-day methods of analysis are largely concerned with analysing and making conscious the transference itself"; Coster, *Yoga and Western Psychology*, p. 60 ; see also Freud, *An Autobiographical Study*, p.75, and *Introductory Lectures or Psycho-analysis*, pp. 360, 374.

गुरु-शिष्य भाव में ये सब अन्तर्गत हैं। इस भाव के गुण भी और दोष भी जानकारों को मालूम हैं।

प्रायशो गुरवो, मित्र ?, शिष्यवित्तापहारकाः ।
विरलाः गुरवस्ते ये शिष्यसन्तापहारकाः ॥

फ़ारसी में भी कहा है,

चूँ बसा इबलीस आदम-रूय अस्त ।
पस बहर दस्ते न बायद दाद दस्त ॥

तथा, त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

प्रायः अब इसी हेतु से साइको-आनालिसिस के सभी अवांतर भेदों के विश्वासी और प्रकारों के अभ्यासी समझने और कहने लग गये हैं कि psycho-analytic treatment at its best is a process of *re-education,*

अर्थात् मानस-चिकित्सा का उत्तम रूप "पुनः संस्कार" है, जिससे रोगी का चित्त मानो नया हो जाता है, "प्रणवी-भवति", उसकी दृष्टि नई हो जाती है, और इस लिए सारी दुनिया उसके लिये नई हो जाती है। इस प्रकार का द्वितीय जन्म, जीर्ण शीर्ण का पराकाष्ठा का प्रणवी-करण, विषादी का प्रसादी-करण, मर्त्य का अमर-करण, अ-स्व-स्थ पर-स्थ का स्व-स्थ-करण, परवश का आत्मवश-करण, जीवात्मा, का परमात्म-करण सच्चे दयालु सद्गुरु के द्वारा सच्चे श्रद्धालु सच्छिष्य के चित्त के "पुनः संस्करण" से ही होता है। तभी "नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा", यह बात सत्य होती है।

फिर से उद्बुद्ध करै, जगावै, असम्प्रज्ञातावस्था (बेहोशी की हालत) से सम्प्रज्ञातावस्था (होश की हालत) में लावै, और उस छिपी कामवासना (शहवत) की पूर्त्ति, शब्दों के द्वारा वर्णन कर देने से ही, करा दे, तो वह रोग मिट जाता है। लेकिन अब 'न्यूरोसिस' की इस प्रकार की चिकित्सा (इलाज) करने वालों को अनुभव (तजरबा) अधिकाधिक (ज्यादा-ज्यादा) होता जाता है कि ऐसी चिकित्सा में कई बड़े अपरिहार्य दोष (लाइलाज खराबियां) हैं; जो अपनी या दूसरे की, उत्पथ कामवासना (नाजायज़ शहवत) और उस की वजह से अपने को पहुँची हुई तकलीफ़, सदमा, शर्म, समाज के भय से, या किसी दूसरे हेतु से, दबाई और भुलाई गई थी, वह जब चिकित्सा की सहायता (मदद) से निर्भय (बेखौफ़) होकर जागी, तब मनुष्य को, स्त्री या पुरुष को, उच्छृङ्खल बना कर, समाजविरोधी कुत्सित मार्गों (जमाअत के मुखालिफ़ मातूब राहों) में ले जाती है, यद्यपि वह विशेष 'न्युरोसिस' रोग दूर हो जाता है; और यदि उन कुत्सित मार्गों में, समाज के भय से, या अन्य हेतु से, मनुष्य न जा सका, और वासना को उन मार्गों से तृप्त न कर सका, न उसके भीतर स्वयं इतना आत्मबल (रूहानी क़ूवत) और धर्म-भाव (अक़्ले सलीम, नेक नीयत) उत्पन्न हुआ, कि वह आप ही उस दुर्वासना को चित्त से बुद्धिपूर्वक दूर कर दे; तो अन्य घोर विकार उत्पन्न होते हैं—इत्यादि।

फ़्राइड आदि की गवेषणा (तफ़्तीश) और लेखों से निश्चयेन (यक़ीनन्) बहुत सी ऐसी बातों की मालूमात (ज्ञान) साम्प्रत काल (इस ज़माने) में पुनर्नव (ताज़ा) हुई, और जनता (अवाम) में बढ़ीं और फैलीं, जिन पर पहले बहुत कुछ पर्दा डाला रहता था, और जो मालूमात कुछ थोड़े से ही अनुभवियों (तजरबाकारों) शास्त्रियों (आलिमों) और वैद्यों (मुआलिजों) को दर पर्दा (गोपनीय भाव से) रहस्य (राज़) के तौर पर पुश्त दर पुश्त प्रायः (अक्सर) विदित (मालूम) हुआ करती थीं, और वह भी असम्बद्ध रूप (बेसिलसिला, ला नज़्म, शक्ल) से। इस प्रकार के ज्ञान के पूर्वापर सम्बद्ध (मुसल्सल) शास्त्र के रूप में प्रसार होने से, निश्चयेन, कुछ लाभ (फ़ायदा) है। पर, जब शास्त्र सम्पूर्ण नहीं, सर्वांगशुद्ध सर्वांगसम्पन्न (सहीहव मुकम्मल) नहीं, शास्त्राभास (नक़ली इल्म) की ही अवस्था (हालत) में है, तब उससे, अगर कुछ लाभ है, तो हानि (नुक़सान) अधिक (ज्यादा) है।

ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि तं नरं न रंजयति।
× × × ×
नीम हकीम ख़तरइ जान॥

फ्राइड आदि के विचारों में जो कुछ तथ्य (सचाई) की छाया वा आभास (सायः, झलक) या अंश (जुज़्व) है, उसका तात्त्विक और पूर्ण रूप सब आत्मविद्या में ही मिलता है। काम के विप्रलम्भ से दस दशा जो उत्पन्न होती हैं, जिनमें सम्प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, और मरण[१] तक शामिल हैं, उनकी चर्चा साहित्य शास्त्र में (जो भी समग्र वेद का अंग है) की है। भर्तृहरि ने भी कहा है,

ते कामेन निहत्य निर्दयतरं नग्नीकृताः मुण्डिताः
केचित् पंचशिखीकृताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे।

अर्थात्, कामदेव की निर्दय मार से घायल (ज़ख़्मी) बेचारे तरह तरह के फ़क़ीरी पन्थों मे शामिल हो कर कोई तो नग्न (बरहना) फिरते हैं, कोई सिर मुंडाये रहते हैं, कोई पाँच शिखा रख लेते हैं, कोई जटा बढ़ा लेते हैं, कोई कपाल लिये फिरते हैं; यह सब निशान कामदेव की मार के ही है।

स्वयं वेद का वाक्य है—"काममय एवायं पुरुषः"। फ़्राइड आदि ने जो सामग्री बड़े परिश्रम से एकत्र की है, उससे ऐसी प्राचीन उक्तियों के कई अंशों की अच्छी व्याख्या होती है। पर सब अंशों का, और गंभीर तत्व का, उनको पता नहीं है। स्त्री-पुरुष का भेद ही क्यों है, इसका अन्वेषण उन्होंने नहीं किया। काम (इश्क़, शहवत) का तत्व क्या है; काम का रूप एक ही है, या कई, और कौन मुख्य रूप हैं, और क्यों; इसका निर्णय उन्होंने नहीं किया। किसी रोगी पुरुष वा स्त्री के चित्त में लुप्त स्मृति के जगाने का फल अच्छा, किसी में बुरा, क्यों होता है; एक ही प्रकार के काम के व्याघात से, भिन्न व्यक्तियों को भिन्न प्रकार के रोग क्यों होते हैं; भिन्न प्रकृतियाँ क्यों हैं, और कै हैं; इन बातों को नहीं निश्चय किया। विस्मृति से विशेष प्रकार के रोग क्यों होते हैं, स्मृति से क्यों अच्छे हो जाते हैं, इसका तत्व नहीं पहिचाना। यह सब तत्व आत्मविद्या से विदित होता है[२]।

---

[१] Absent-minded and aberrant talk; lunacy, hysteria, delusions, halucinations, illusions; physical diseases of various sorts; swoon, syncope, paralysis; death.

[२] इन बातों पर प्राचीन आत्मविद्या के विचार, मैंने, पृ० ८९ के फ़ुटनोट में कहे, ग्रन्थों में दिखाने का यत्न किया है। मार्क्स आदि की विचार-धारा की विशेष समीक्षा परीक्षा Ancient vs. Modern Scientific Socialism नामक ग्रंथ में मैंने की है। तथा फ़्राइड आदि की, Ancient vs. Modern Psycho Anaylysis नाम की पुस्तक में, जो अभी छपी नहीं है।

मूल विस्मृति (फ़रामोशी) यह है कि आत्मा अपने को भूल जाय; परमात्मा अपने को शरीर में बद्ध जीवात्मा समझने लगे; यह भूल ही, यह अविद्या,अज्ञान, ही, काम, वासना, तृष्णा,अस्मिता, का बीज है। उस अस्मिता (.ख़ुदी) के तीन क्रम (दर्जे) हैं; अहं स्याम् (लोकैषणा, मैं बना रहूँ), अहं बहु स्याम् (वित्तैषणा, मैं बहुत बड़ा होऊँ), अहं बहुधा स्याम् (दार-सुतैषणा, मैं बहुतों पर प्रभाववान्, बहुरूपी होऊँ, अपने ऐसे बहुतों को पैदा करूँ और वे मेरी भक्ति करैं और आज्ञा मानैं)। दार-सुतैषणा, मैथुन्य काम, यह काम की घोरतम अवस्था, परा काष्ठा, है। "सर्वेषां(सांसारिकाणां)आनंदानां उपस्थ एवैकायनम्" (बृहद् उपनिषत्) जैसे आँख सब दृश्य रूपों का केन्द्र है, वैसे ही।प्रजनन इन्द्रिय सब सांसारिक आनन्दों का एकायन केन्द्र है। फ्राइड ने इस तथ्य का आभास 'प्लेझर-प्रिंसिपल'[1] के नाम से पाया और दिखाया है। पर,

यश्च अकामहतः एष एव परम आनन्दः, एको द्रष्टा अद्वैतो भवति, एतस्यैवानंदस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवंति। (बृहद् उपनिषद्)

इस अद्वैत अहन्ता के, इस ला-तश्रीक, ला-सानी, .ख़ुदाई के, इस मा-सिवा अल्लाह की, कि "मेरे सिवा और कोई कुछ कहीं है ही नहीं", ला-इन्तिहा .ख़ुदी के, परम आनन्द को, जिसकी छाया मात्र सब द्वैतभाव की अस्मिता के आनन्द हैं, उन्हों ने स्वप्न में भी, दूर से भी, नहीं देखा; इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। जिस वस्तु को फ्राइड ने 'रियालिटी प्रिन्सिपल'[1] का अति कृत्रिम (मस्नूई) और भ्रमावह (ग़लत) नाम दिया है, जिससे अर्थ प्रकट (मुनकशिफ़) होने के बदले (एवज़) छिप जाता है, उसको उपनिषदों में "भय" के नाम से कहा है, संसार द्वंद्वमय है, "कुल्ले-शयीन् ख़ौजैन् व ज़िद्दैन्"; आनंद का विरोधी भय है; दोनों ही तुल्यरूप से 'रीयल' वास्तविक हैं, या दोनों ही 'अन्-रीयल' मिथ्या हैं; "तस्य भयाद्वायुर्वाति तस्य भयात् सूर्यस्तपति" एक तरफ़; दूसरी तरफ़, "आनदाद् ह्येव जातानि जीवंति, आनन्द प्रयन्त्यभिसंविशन्ति"; उसी के .ख़ौफ़ से हवा चलती रहती है, और सूरज तपता रहता है, और उसी के सुरूरे जावेदानी, शादमानी, मस्ती से सब आलम, सब रूहैं, सब जानैं, पैदा होती हैं, और उसी में जा सोती हैं। दोनों की, .ख़ौफ़ और मसर्रत की, भय और आनंद की, दवामी तहरीक (सतत प्रेरणा) से संसार चक्र (चर्ख़ि दह्र) घूम रहा है।

---

[1] Pleasure-Principle; Reality-Principle; Freud, *Introductory Lectures on Psycho-Analysis* p. 299, (pub : 1933).

इस चक्कर के दुःख से आदमी छुटकारा चाहै तो उसको इसके सुख के भी छोड़ देने पर कमर बांधना होगा, और यह याद करना पड़ेगा कि " मैं तो हाड़ मांस नहीं", "मैं आत्मविश्वास ही"।

विशेष प्रकार के नाड़ी रोग, न्यूरोसिस, ख़ास किस्म की याद जगाने से दूर हो जाते हैं, यह ठीक है; लेकिन अक्सर नहीं भी होते, क्योंकि स्वादु (.खुश .जायका) भोज्य पदार्थों (खाने क़ाबिल चीज़ों) की याद करने से ही भूख नहीं मिटती, "मन मोदक नहिं भूख बुताई", बल्कि कभी तो और .जोर पकड़ती है ; और बीमारी के फिर से उभरने का डर भी सर्वथा (कुल्लन) नहीं मिटता। इसलिए जो मनुष्य "स्मृतिलाभ" (याद की बाज़याबी) के गुणों (नफ़ों) को ठीक-ठीक जानना और अनुभव करना चाहै, दुःख के जड़ मूल का ऐकान्तिक आत्यंतिक (क़त्तई व दवामी) नाश (दफ़ा, इज़ाल) चाहै, उसको आत्मविद्या की ही शरण लेना (इल्मिरूह, इलाहीयात, तसव्वुफ़, पर ही तवक्कुल करना) पड़ेगा, और नीचे लिखे श्लोकों पर ध्यान देना होगा, जिन के ही अर्थ के व्याख्यान का अति दुर्बल प्रयत्न इस ग्रंथ में यहां तक किया गया है।

थोड़े में, इन श्लोकों का आशय यह है। आत्मा की स्मृति ज्यों ज्यों उज्ज्वल होती है, त्यों त्यों मोह नष्ट होता है; सब सन्देह दूर हो जाते हैं; हृदय मे चिरकाल से गठी अस्मिता, अहंकार, काम, क्रोध, लोभ, भय, ईर्ष्या आदि की गांठें कट जाती हैं ; मर्त्य मनुष्य अमर हो जाता है, निश्चय से जान जाता है कि मैं अमर हूँ। विशिष्ट उत्तम ज्ञान, और वासना का क्षय, और भेद भावात्मक मन का नाश-यह तीन साथ साथ चलते हैं, यही हृदय की गांठों का कटना, उलझनों का सुलझाव, है। विषयों का ध्यान करने से उनमें आसक्ति, उससे काम, उससे क्रोध, उससे मोह, उससे स्मृति का भ्रंश, उससे बुद्धिनाश, उससे आत्मनाश होता है। राग द्वेष ज्यों ज्यों कम होते हैं त्यों त्यों चित्त मे प्रसाद होता है, बुद्धि स्थिर होती है, दुःख मिटते हैं। यतियों का परम कर्त्तव्य है कि काम-वासना की जटाओं को, हृदय की गांठों को, आत्म विद्या के अभ्यास से काटैं, और आत्मा की स्मृति का, आत्मा के ज्ञान का, लाभ करैं, और सब प्रकार के भयों से, अन्तक यम के, मृत्यु के, भय से भी, स्वयं मुक्त हों, और दूसरों को मुक्त करावैं। आत्मा का अवसाद भी, आत्मा की अहंकारात्मक संभावना भी, दोनों ही पतन के हेतु हैं ; दोनों से बचना चाहिये। आहार की शुद्धि से सत्त्व की शुद्धि, उससे स्मृति का लाभ, उससे सब हृदय की ग्रंथियों का मोक्षण होता है। तब राग द्वेष से मुक्त जीव को भगवान् सनत् कुमार, जो परमात्मा की विभूति ही हैं, सब हृदयों मे स्थित हैं, तमस् के परे आत्म-ज्योति को दर्शन कराते हैं॥ ॐ॥

नष्टो मोहः, स्मृतिर्लब्धा[१], त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः, करिष्ये वचनं तव ॥ (गीता)
भिद्यते हृदयग्रंथिः[२], छिद्यंते सर्वसंशयाः[२] ।
क्षीयंते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ (मुंडकोपनिषत्)
यदा सर्वे प्रभिद्यंते हृदयस्येह ग्रंथयः[२] ।
यदा सर्वे प्रमुच्यंते कामा[५] येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति, अत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ (कठोपनिषत्)
वासनाक्षय-विज्ञान-मनोनाशैः महामते ।
विभेद्यंते चिराभ्यस्तैः हृदयग्रंथयो दृढ़ाः[२] ॥(मुक्तिकोपनिषत्)
ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः, कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद् भवति संमोहः[३], संमोहात् स्मृतिविभ्रमः[४] ।
स्मृतिभ्रंशाद्[४]बुद्धिनाशो,[५] बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रि यैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसाद[६] मधिगच्छति ॥
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते[७] ॥ (गीता)
यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटाः[२]
दुरधिगमोऽसतां हृदि गतोऽस्मृत[४]कंठमणिः ।
असुतृपयोगिनामुभयतोऽपि भयं भगवन्
अनपगतान्तकादनधिरूढ़पदाद् भवतः ॥ (भागवत)
उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं, नाऽत्मानमवसादयेत्[८] ।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी, इत्यज्ञानविमोहिताः ॥
आत्मसंभाविताः[९] स्तब्धाः धनमानमदान्विताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतंति नरकेऽशुचौ ॥ (गीता)

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृतिलम्भे[१७] सर्वग्रन्थीनां[१८] विप्रमोक्ष[१९] । तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत् कुमारः ॥ॐ॥

[१]Recovery of memory. [२] Complexes [३] Doubts, delusions. hallucinations, illusions. [४]Confusion of memory. [५]Loss of understanding, [६] Placidity, lucidity, [७]Steady understanding. [८]**आत्मावसाद-ग्रंथिः** Inferiority. complex. [९] **आत्मसम्भावन-ग्रंथिः**, Superiority complex. [१०]Setting free ; solving, re-solving, dissolving of the complexes; loosening, untying, of the heart-knots.

अध्याय ४

'दर्शन'–शब्द; 'दर्शन'–वस्तु; 'दर्शन'–प्रयोग

॥ ॐ ॥ हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय 'दृष्टये' ॥ ॐ ॥

(ईशोपनिषत्)

"सोने के पात्र से सत्य का मुख ढँका है। हे पूषन्! सब जगत् का पोषण करने वाले परमात्मन्! अन्तरात्मन्! उस ढकने को हटाइये, कि सत्य अर्थात् ब्रह्म का, परमात्मा का, आप का, और सनातन ब्रह्म परमात्मा पर प्रतिष्ठित धर्म का, कर्त्तव्य का, आत्मज्ञानानुकूल, आत्मविश्वासम्मत, कर्त्तव्य धर्म का, 'दर्शन' हम को हो!"

'दर्शन'–शब्द

'दर्शन' शब्द का प्रयोग, प्रस्तुत अर्थ में, यथा 'षड्दर्शन', 'सर्व-दर्शन-संग्रह', कब से आरंभ हुआ, इस का निश्चय करना कठिन है। ईशोपनिषत् का जो श्लोक ऊपर उद्धृत किया है, उस में "दृष्टये" शब्द आया है। प्रसिद्ध है कि ईशोपनिषत्, शुक्लयजुर्वेद संहिता का अंतिम, अर्थात् चालीसवां, अध्याय है। स्यात् 'दृश्' शब्द का इस अर्थ में प्रयोग यही पहिला हो।

'दर्शन' की शक्ति का लाभ करने के 'रहस्य' योगमार्गीय उपाय

इस औपनिषदी ऋचा का अर्थ 'रहस्य' है—ऐसा अभ्यासी विरक्तों से सुनने में आया है। 'मुंडक' उपनिषत् में कहा है कि, "शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णं", जिन्होंने 'शिरोव्रत' का विधि से अभ्यास किया है, वे ही सत्य-दर्शन, आत्म-दर्शन, ब्रह्म-दर्शन, तथा सनातन आत्मा पर प्रतिष्ठित सत्य सनातन धर्म का दर्शन, करने की शक्ति पाते हैं। 'शिरोव्रत' का वर्णन देवी भागवत के ग्यारहवें स्कंध में किया है। यम-नियमादि से शरीर और चित्त को पवित्र करके, एक प्रकार के विशेष ध्यान द्वारा, सिर के, मस्तिष्क के, भीतर वर्त्तमान 'चक्रों', 'पद्मों', 'पीठों', 'कन्दों' ('लतायफि-सित्ता') का उज्जीवन, उत्तेजन, संचालन करने का अभ्यास करना—यह 'शिरोव्रत' जान पड़ता है। अंग्रेजी में इन 'कंदों' ('ग्लैड्ज़' 'प्लेक्ससेज़' 'गांग्लिया') को 'पिट्युइटरी

बाडी,' 'पाइनीयल ग्लैंड', आदि के नाम से कहते हैं [१]। 'पाइनीयल ग्लैंड' में कुछ पीले अणु रहते हैं; स्यात् इसलिये 'हिरण्मय' कहा है; इस को संस्कृत में 'देवाक्ष' 'दिव्यचक्षु' 'तृतीय नेत्र' आदि भी कहते हैं [२]। अपवित्र अशुद्ध मन और देह से अभ्यास करने से घोर आधि-व्याधि उत्पन्न हो जाती हैं। वेदों के अन्य मंत्र ऐसे 'रहस्यों' का इशारा करते हैं। यथा,

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्; तस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति; य इद्विदुस्तत्त इमे समासते ॥

शंकराचार्य ने, इस का अर्थ, श्वेताश्वरोपनिषत् के भाष्य में, इतना ही किया है कि "आकाश-सदृश अक्षर परम ब्रह्म में, सब देव आश्रित होकर अधिष्ठित हैं; उस परमात्मा को जो नहीं जानता, वह ऋचाओं से क्या करेगा ? जो उसे जानते हैं, वे ये कृतार्थ होकर बैठे हैं।" पर अभ्यासियों से सुनने में आया है कि 'व्योम' शब्द का अर्थ, ऐसे प्रसंगों में, प्रायः शिरः-कपालांतर्गत आकाश होता है; तथा 'ऋचः', 'देवाः', आदि का अर्थ, मस्तिष्क और पृष्ठवंश में स्थित, विविध ज्ञान-कर्मेंद्रियादि से संबंध रखनेवाली, विविध नाड़ियों और नाडिग्रंथियों, चक्रों, का होना है। इन के पोषण और उपोद्बलन से सूक्ष्म पदार्थों के 'दर्शन', दिव्य भावों के 'ज्ञान', की शक्ति बढ़ती है।

दर्शन-वस्तु

आत्म-'दर्शन', आत्म-'ज्ञान', ही, भगवद्गीत 'गुह्य', 'गुह्याद् गुह्यतर', 'गुह्यतम', 'परम गुह्य', 'सर्वगुह्यतम', 'शास्त्र' का, वेद-वेदांत का, मुख्य इष्ट और अभिप्रेत है।

मां विधत्तेऽभिधत्ते मां, विकल्प्यापोह्यते त्वहम्।
एतावान् सर्ववेदार्थः; शब्द, आस्थाय मां, भिदाम्।
मायामात्रमनूद्यऽान्ते प्रतिषिध्य, प्रसीदति ॥ (भागवत)

"मां' अर्थात् आत्मा, परमात्मा, को ही, तरह तरह से कहना; 'अहम्' पदार्थ, 'आत्मा', 'परमात्मा'-पदार्थ, के विषय में, विविध प्रकार के विकल्पों (क़यासों) को उठाकर, उन का अपोहन, खंडन, निरसन, प्रतिषेध, (इनक़िता) करना; 'मां' परमात्मा को, ही, सब शब्दों से, तर्कों से, आस्थित

[१] Glands, plexuses; pituitary body, pineal gland.

[२] H. P. Blavatsky, *The Secret Doctrine,* (Adyar edn.) Vol 5, pp.480, et seq., में इन चक्रों के विषय में, पाठकों को, यदि वे खोज करें, तो कुछ इशारे मिल सकते हैं।

प्रतिष्ठित करना; और सब भेदों को 'मायामात्र', धोखा, (जाल, फ़ितूना), ही सिद्ध करना; यही समग्र वेद का, समस्त विद्या का, अर्थ है, उद्देश्य है, एकमात्र अभीष्ट लक्ष्य है।"

'दर्शन'-शब्द का व्यवहार अन्य ग्रंथों और अर्थों में

आदिम उपनिषत्, 'ईश', में प्रयुक्त होने के बाद, अन्य उपनिषदों में बहुतायत से 'दृश्' धातु से बने शब्दों का, 'आत्म-दर्शन' के अर्थ में, प्रयोग हुआ है। यथा,

"आत्मा वाऽऽरे 'द्रष्टव्यः' श्रोतव्यो, मंतव्यो, निदिध्यासितव्यः", "नाऽन्यद् आत्मनोऽपश्यत्", "आत्मन्येवात्मानं पश्यति, सर्वमात्मानं पश्यति", "आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्", "आत्मनोवाऽऽरे दर्शनेन सर्वं विदितम्" (बृ०); "ब्रह्म ततमपश्यत्" (ऐ०); "यत्र नान्यत् पश्यति स भूमा", "तमसः पारं दर्शयति" (छां०); "अभेददर्शनं ज्ञानं" (स्कंद०); "यदात्मनात्मानं पश्यति" 'ब्रह्म तमसः पारमपश्यत्", "स्वे महिम्नि तिष्ठमानं पश्यति" (मैत्री०); "तस्मिन् दृष्टे परावरे" "ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः" "तं पश्यंति यतयः क्षीणदोषाः" (कठ०); "दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या", "विनश्यत्स्वविनश्यंतं यः पश्यति स पश्यति" (गीता०); "आत्मानं पश्यावः" (छा०)। इति प्रभृति।

प्रसिद्ध छः 'दर्शनों' में, पतंजलि के रचे 'योगसूत्रों' पर, व्यास नामक विद्वान् के बनाये भाष्य में, सांख्य के प्रवक्ता अति प्राचीन पंचशिखाचार्य के एक सूत्र का उद्धरण किया है, "एकमेवदर्शनम्, ख्यातिरेव दर्शनम्"। इस सूत्र का अर्थ अन्य प्रकारों से पुराने टीकाकारों ने किया है; स्यात् यों करना भी अनुचित न हो, कि "पुरुष और प्रकृति की 'विवेक-ख्याति', 'प्रकृति-पुरुषा-ऽन्यता-ख्याति', आत्मा और अनात्मा, 'अहम्' और 'इदम्' (वा 'एतत्') की परस्पर अन्यता की ख्याति अर्थात् ज्ञान—यही एकमात्र सच्चा अन्तिम 'दर्शन' है।"

प्रचलित 'मनुस्मृति' नामक ग्रंथ में भी, जो यद्यपि मूल 'वृद्धमनु' नहीं कहा जा सकता, तो भी बहुत प्राचीन है, 'दर्शन' शब्द आत्मज्ञान के ही अर्थ में मिलता है। यथा,

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानमिंद्रियाणां च संयमः।
अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम्॥
सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां, प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥
सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु ससारं प्रतिपद्यते॥

"सब धर्मों, कर्मों, विद्याओं से बढ़कर आत्मज्ञान, सम्यग्दर्शन, है; उस से अमरता, दुःखों से मुक्ति, मिलती हैं।" याज्ञवल्क्य स्मृति में भी इसी अर्थ का अनुवाद किया है।

इज्याऽऽ-चार-दमा-ऽहिंसा दान-स्वाध्याय-कर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनाऽऽत्मदर्शनम्॥

"योग करके आत्मा का दर्शन करना, अपने सच्चे स्वरूप को पहिचानना (प्रत्यभिज्ञान करना)—यही परम धर्म है।"

बुद्धदेव के कहे हुए आर्यमार्ग के आठ 'सम्यक्' अंगों में 'सम्यग्-दृष्टि' सब से पहिले है। जैन सम्प्रदाय के 'तत्त्वाधिगम-सूत्र' का पहिला सूत्र "सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः" है। इस को उमास्वाती (वा स्वामी) ने प्रायः सत्रह अठारह सौ वर्ष पूर्व रचा।

आत्मज्ञान, आत्मदर्शन, ही मुख्य दर्शन है। मानव जाति के वर्त्तमान युग में, ज्ञानेंद्रियों में सब से अधिक बलवान् और उपयोगी 'अक्षि' 'चक्षु', 'नेत्र' 'नयन' हो रहा है। 'देख' लेना ही ज्ञान का सब से अधिक विशद विस्पष्ट प्रकार माना जाता है; 'जो सुनते थे सो देख लिया'। 'श्रुतिप्रत्यक्ष-हेतवः', ऐसे सच्चे विद्वान् जो 'सुनी बात को प्रति-अक्ष, आंख के सामने, कर दिखावें'। सूफी लोग भी फारसी भाषा में, आत्म-दर्शन को 'दीदार' कहते हैं। अंग्रेजी 'मिस्टिक' लोग भी उस को 'व्हिझन आफ गाड' कहते हैं। आँख ही मनुष्य को रास्ता दिखाती है, उस को ले चलती है, 'नेता' 'नायक' का काम करती है, इसलिये 'नेत्र' 'नयन' कहलाती है।

'वाद', 'मत', 'बुद्धि', 'दृष्टि', 'राय'

विचार की शैली, विचार का प्रकार, मत, 'वाद', के अर्थ में गीता में 'दृष्टि' शब्द मिलता है।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरं।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत् कामहैतुकम्॥
एतां 'दृष्टि' मवष्टभ्य, नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवंत्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥

"बुद्धि थोड़ी; राग-द्वेष (खश्म-शह्वत) बहुत; 'दृष्टि', राय, यह है कि दुनिया अचानक पैदा हो गई है, इस का बनाने चलाने सम्हालने वाला कोई ईश्वर पदार्थ नहीं; ऐसी 'दृष्टि' वाले लोग, अपने उग्र, निर्दय, घोर, क्रूर कर्मों से, जगत् का विनाश करने में, धार्मिक मर्यादा का भंग करने में ही, प्रवृत्त होते रहते हैं।"

न्याय-सूत्र के वात्स्यायन भाष्य में भी "प्रावादुकानां दृष्टयः", मिलता है। किन्हीं प्रतियों में "प्रावादुकानां प्रवादाः", ऐसा भी पाठ है। आशय दोनों शब्द का वही है। स्पष्ट अर्थ में थोड़ा अंतर कह सकते हैं। 'दृष्टि', 'दर्शन' का अर्थ है देखना, निगाह, राय, मत। 'वाद' 'प्रवाद' का अर्थ है कहना, राय का जाहिर करना। 'उन की राय यह है' 'उन का कहना यह है'। 'दर्शन' स्वगत, अपने लिये; 'वाद', 'प्रवाद', उस दर्शन का विख्यापन, प्रवचन, दूसरे के लिये।

'जगह बदली, निगाह बदली'

"प्रस्थानभेदाद् दर्शनभेदः", यह कहावत प्रसिद्ध है। शिवमहिम्नस्तुति का श्लोक है,

प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।

स्थान बदला, दृष्टि बदली। जगह बदली, निगाह बदली। हालत बदली, राय बदली। अंग्रेजी में भी यही कहावत है।

'ऐज़ दि स्टैंडप्वाइंट, सच दि व्यू; दि ओपिनियन चेञ्जेज़ विद् दि सिचुएशन।'[1]

महाभारत में (सौप्तिक पर्व में) श्लोक है।

> अन्यया यौवने मर्त्यो बुद्ध्या भवति मोहितः।
> मध्येऽन्यया, जरायां तु सोऽन्यां रोचयते मतिं॥
> तस्यैव तु मनुष्यस्य सा सा बुद्धिस्तदा तदा।
> कालयोगे विपर्यासं प्राप्याऽन्योन्यं विपद्यति॥

"जवानी में बुद्धि, मति, एक होती है; मध्यवयस् में दूसरी; बुढ़ापे में तीसरी। पिछली बुद्धि पहिली बुद्धि को दबा देती है।" इस प्रकार से राय या मत के अर्थ में, 'बुद्धि' शब्द का भी प्रयोग होता है।

'दर्शन' शब्द का रूढ़ अर्थ

तो भी, अब रूढ़ि ऐसी हो रही है कि इस देश में, संस्कृत जानने वालों की मंडली में, 'दर्शन' शब्द से, मुख्यतया छः दर्शन, और साधारणतः प्रायः सोलह दर्शन, कहे जाते हैं, जिन का वर्णन माधवाचार्य के सर्व-दर्शन-संग्रह नामक ग्रंथ में किया है। चार्वाक, बौद्ध, आर्हत (जैन), रामानुजीय, पूर्णप्रज्ञ (माध्व), नकुलीशपाशुपत, शैव, प्रत्यभिज्ञा (काश्मीर-शैव), रसेश्वर (आवधूतिक सिद्धपारद-रस), औलूक्य (काणाद वैशेषिक), अक्षपाद (गौतमीय न्याय), जैमिनीय (पूर्व मीमांसा), पाणिनीय (वैया-

---

[1] As the standpoint such the view; the opinion changes with the situation.

करण), सांख्य (कापिल), पातंजल (योग), शांकर (अद्वैत वेदांत)। मधुसूदन सरस्वती ने, महिम्न-स्तुति की टीका में, प्रस्थानभेद नामक प्रकरण में, छः आस्तिक, और छः नास्तिक दर्शन गिनाये हैं; अर्थात् (१) न्याय, वैशेषिक, कर्ममीमांसा, शारीर (ब्रह्म) मीमांसा, सांख्य, योग; (२) सौगत (बौद्ध) दर्शन के चार भेद, माध्यमिक, योगाचार, सौत्रांतिक, वैभाषिक; और चार्वाक और दिगम्बर (जैन)।

'वाद', 'इज़्म'

'वाद' शब्द में सैकड़ों प्रकार अंतर्गत हैं। किसी भी शब्द के साथ 'वाद' शब्द लगा देने से एक प्रकार का 'वाद', एक विशेष मत, संकेतित हो जाता है ; जैसे आजकाल अंग्रेजी में 'इज़्म' शब्द जोड़ देने से। एक एक दर्शन में बहुत बहुत वादों के भेद अन्तर्गत हो रहे हैं; अद्वैतवाद, द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, भेदवाद, अभेदवाद, आरंभवाद, परिणामवाद, विकारवाद, विवर्तवाद, अध्यासवाद, आभासवाद, मायावाद, शून्यवाद, ईश्वरवाद, अनीश्वरवाद, दृष्टिसृष्टिवाद, क्षणिक-विज्ञानवाद, सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद, उच्छेदवाद, अनुच्छेदवाद, प्रभृति। अंग्रेजी में इन के समान मोनिज़्म, ड्युएलिज़्म, थीज़्म, पैन्थीज़्म, ट्रान्सफार्मेशनिज़्म, रीयलिज़्म, आइडियलिज़्म, एवोल्यूशनिज़्म, एब्सोल्यूटिज़्म आदि हैं। बुद्धदेव के 'ब्रह्मजाल सूत्र' में बासठ वाद गिनाये हैं। सैकड़ों गिनाये जा सकते हैं। 'मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना'। आजकाल नये नये वाद बनते जाते हैं, यथा—व्यक्तिवाद, समाजवाद, जातिवाद, व्यष्टिवाद, समष्टिवाद, वर्गवाद, साम्यवाद, साम्राज्यवाद, पूंजीवाद, श्रमवाद, लोकतंत्रवाद, प्रभृति। अंग्रेजी में इन के मूल शब्द, जिन के ये अनुवाद हैं, इण्डिविड्युलिज़्म, सोशलिज़्म, फ़ैशिज़्म, नैशनलिज़्म, कलेक्टिविज़्म, कम्यूनिज़्म, इम्पीरियलिज़्म, कैपिटलिज़्म, प्रालिटेरियनिज़्म, डेमोक्रैटिज़्म हैं। प्रत्येक वाद के मूल में एक 'दर्शन' 'फिलासोफी' 'मत' 'बुद्धि' 'राय' 'दृष्टि' लगी है। संस्कृत के प्रसिद्ध दर्शनग्रंथों में, यथा वेदांत-विषयक, बादरायण के ब्रह्मसूत्रों पर शंकर के शारीरक-भाष्य, रामानुज के श्री-भाष्य, वाचस्पति मिश्र की भामती, श्रीहर्ष के खंडनखंडखाद्य, चित्सुखाचार्य की चित्सुखी, मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि और संक्षेपशारीरक-टीका, अप्पय्य दीक्षित के सिद्धांतलेश, में; एवं, न्याय-विषयक, गौतम के न्याय सूत्रों पर वात्स्यायन भाष्य, उस पर उद्द्योतकर का वार्त्तिक, उस पर वाचस्पति की टीका; तथा नव्यन्याय-विषयक, गंगेश-कृत तत्त्वचिंतामणि, उस पर माथुरानाथी, गादाधरी, जागदीशी आदि टीका; एवं मीमांसा-विषयक, जैमिनिकृत पूर्व-मीमांसा-सूत्रों पर शाबर भाष्य, उस पर कुमारिल के

लेकिन, "पढ़े पंडित नहीं होता, पड़े (सिर पर मुसीबत पड़ने से) पंडित होता है", दुनिया ठीक ठीक, अपरोक्ष, समझ में आती है। इस समय, ईसा की बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध, विक्रम की बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पृथ्वीतल के सभी देशों में, सभी मानव जातियों की, जो परस्पर घोर कलि और कलह की अवस्था हो रही है, उस से यही अनुमान होता है कि सन् १९१४-१८ ई० के महायुद्ध से, मानव जाति के दुष्ट मानस भावों का विरेचन पर्याप्त नहीं हुआ; पुनरपि घोर 'महाभारत' और 'यादव-संहार' होगा; और तभी पुनः अध्यात्म-शास्त्र के तत्वों तथ्यों की ओर मनुष्य झुकेंगे, और उन के अनुसार छिन्न-भिन्न, जीर्ण-शीर्ण, दीन-हीन-क्षीण मानव समाज के पुनर्निर्माण का यत्न, वर्णाश्रम धर्म की विधि से, करेंगे; जैसा, महाभारत युद्ध के पीछे, भीष्म से उपदेश लेकर, युधिष्ठिर ने किया।

तत्त्वबुभुत्सया वादः, विजिगीषया जल्पः,
चिखण्डयिषया वितंडा। (न्याय-भाष्य)
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्। (गीता०)

गीता में कहा है कि "सब विद्याओं में श्रेष्ठ अध्यात्म विद्या है"। न्यायशास्त्र में प्रसिद्ध है कि, "तत्व के निर्णय के लिये जो बातचीत, बहस, की जाय, वह 'वाद' कहलाता है; जो केवल वाग्युद्ध में अपने पक्ष का जय, और दूसरे का पराजय, करने की इच्छा से हो, वह 'जल्प'; और जिस में अपने मत का प्रतिपादन न हो, केवल दूसरे का खंडन, वह 'वितंडा'।" इसलिये वार्तालाप के प्रकारों में उत्तम प्रकार 'वाद' है। यहाँ 'वाद' शब्द का अर्थ शंका-समाधानात्मक, उत्तर-प्रत्युत्तरात्मक, 'बहस' है, 'मत' नहीं। अहमहमिका (हमहमा, ख़ुदी, ख़ुदनुमाई) का ज़ोर जब तक है, 'मेरी ही राय सहीह, दूसरों की राय ग़लत', 'क़बूल करो कि तुम हारे, मैं जीता', तब तक जल्प, वितंडा, कलह, हुज्जत, फ़साद, जंग और जिदाल, का ही ज़ोर रहेगा, विवाद में ही रस मिलेगा, वाद और सम्वाद की ओर लोग मन न देंगे। तथा अधिभूत विद्याओं की, 'नफ़सानियत' की, क़द्र बहुत होगी, और अध्यात्म विद्या का, 'रूहानियत' का, आदर कम होगा।

इसी कठ-हुज्जत से घबरा कर महिम्नस्तुतिकार बेचारा कहता है—

ध्रुवं कश्चित् सर्वं, सकलमपरस्त्वध्रुवमिदं,
परो ध्रौव्याध्रौव्ये जगति गदति व्यस्तविषये।
समस्तेऽप्येतस्मिन् पुरमथन! तैर्विस्मित इव,
स्तुवन् जिह्रेमि त्वां, न खलु ननु धृष्टा मुखरता॥

"कोई कहता है कि यह सब सत्य है, ध्रुव है, कोई कहता है कि यह सब असत्य है, अध्रुव है, कोई कुछ, कोई कुछ; अनंत प्रकार की अस्त-

व्यस्त बातों का कोलाहल मचा हुआ है। हे परमात्मन्!, तीनों पुर के मथने वाले!, (स्थूल, सूक्ष्म, कारण, तीनों शरीरों का, तथा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तीनों अवस्थाओं का, अनुभव करने और उन से परे रहने वाले! उनका निषेध और नाश करने वाले! इस सब कोलाहल के बीच में चकित और त्रस्त होकर मुझे आप की स्तुति में भी मुह से शब्द निकालते लज्जा होती है, और कुछ भी कहना धृष्टता, ढिठाई, जान पड़ती है!"

परंतु, मनुष्य की प्रकृति ही 'अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश' से बनी है। जैसे क्रिया-प्रधान, शूर, साहसी, जीवों को भुजा से, या 'अस्त्र-शस्त्रों' से, युद्ध करने में 'रण-रस' होता है, वैसे ज्ञान-प्रधान, वावदूक, विद्वान्, शास्त्री जीवों को, 'शास्त्रों' से, 'शास्त्रार्थ' विचार के बहाने, जिह्वा से, मल्लयुद्ध करने में, 'अहंकार' का वीर-रस मिलता है। यूरोप देश में भी 'ओडियम् थियोलाजिकम्'[1] प्रसिद्ध है। मध्यकालीन भारत की कहानियों में यह कथा शंकर-दिग्विजय में कही है, कि जब शंकराचार्य अपना शारीरक-भाष्य लेकर काशी आये, तब ब्रह्मसूत्र के कर्त्ता बादरायण व्यास, एक वृद्ध पण्डित का वेश बनाकर उन से किसी गली में मिले; और वेदान्त-विषयक प्रसंग छेड़ा। फिर क्या था,

दिनाष्टकं वाक्कलहो जजृम्भे।

आठ दिन रात, गंगा के तट पर, खड़े खड़े ही हुज्जत जारी रही!

शंकर का, मंडन मिश्र और उन की पत्नी परम विदुषी श्री शारदा देवी से, जो शास्त्रार्थ हुआ, उस की भी कहानी उसी ग्रन्थ में कही है। आठ दिन तक तो ब्रह्मा के अवतार मंडन मिश्र से वाग्युद्ध हुआ। जब वे हार गये, तब सत्रह दिन तक सरस्वती की अवतार शारदा देवी से बहस हुई।

अथ सा कथा प्रववृते स्म तयोः, अतिजल्पतोः सममनल्पधियोः।
मति-चातुरी-रचित-शब्दझरी-श्रुति-विस्मयीकृत-विचक्षणयोः॥
न दिवा न निश्यपि च वादकथा विरराम, नैयामिककालमृते।
मतिवैभवादविरतं वदतोर्दिवसाश्च सप्तदश चात्यगमन्॥

"शब्दों की ऐसी झरी लगी, जैसी वर्षा में आकाश से जल की धाराओं की; सुनने वालों के कान उन की ध्वनि से, और मन अचरज से, भर गये; नियम के कृत्यों के समय को छोड़ कर, हुज्जत बन्द ही न होती थी, न दिन में, न रात ही में; सत्रह दिन बीत गये।" कवि ने यह स्पष्ट करके नहीं लिखा कि खाने के लिये कथा रुकती थी या नहीं; क्योंकि यह तो 'नियम' का 'कृत्य' नहीं है; शौच, स्नान, संध्यावंदन, आदि तो नियत हैं, अपरिहार्य

[1] Odium theologicum.

हैं; पर उपवास तो किया जा सकते हैं। अस्तु! कथा से यह तो सिद्ध हुआ कि मंडन मिश्र का कहना ही क्या है, वेदान्त-प्रतिपादक शंकराचार्य भी वाग्युद्ध के कम शौकीन न थे। नव्य न्याय और व्याकरण वालों ने इस कठ-हुज्जत के कौशल से, निश्चयेन प्राचीनों को परास्त कर दिया है; जो साध्य है उस को भूल गये हैं; साधन में ही मग्न हो रहे हैं; इन के कारण, साधन भी 'साधन' नहीं रहा, सर्वथा 'बाधन' हो गया। आजकाल, 'पंडित' लोग, 'वेदांत-केसरी', 'तर्क-पंचानन', 'सर्वविद्यार्णव', 'वाङ्मयसार्वभौम', 'सर्वतंत्र-स्वतंत्र', 'प्रतिवादि-भयंकर', आदि पदवियों को धारण करते हैं, आग्रह से, हर्ष से, रस से। ऋषियों ने ऐसी पदवियां अपने को नहीं दीं। कहाँ आत्म-दर्शन का परम सौम्य भाव, कहाँ हिंस्र पशु केसरी, पंचानन, अर्थात् सिंह का भाव। भारतीय जीवन के सभी अंगों में ऐसी ही विपरीत, विपर्यस्त, बुद्धि का राज्य देख पड़ता है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽवृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च, बुद्धिस्सा पार्थ तामसी॥

"धर्म को अधर्म, अधर्म को धर्म, जो माने, और सभी बातों को उलटा करके जो समझे, वह बुद्धि तामसी है।"

भारतवर्ष में बहुतेरे दर्शन होते हुए भी, अंततो गत्वा, सिद्धांत यही है, कि आत्मदर्शन, अध्यात्मविद्या, ब्रह्मविद्या, वेद का, ज्ञान का, अंत है, इंतिहा, खातमा, पराकाष्ठा है। इस में सब विद्या, सब ज्ञान, अंतर्भूत हैं। इस में सब 'वादों' का 'सम्वाद' हो सकता है, और हो जाता है; क्योंकि परमात्मा की प्रकृति ही 'द्वंद्वमयी' 'विरोधमयी' 'विरुद्धपदार्थमयी', 'सर्वविरुद्धधर्माणामाश्रयः', अथ च 'द्वंद-पदार्थ-निषेधमयी' है।

स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह। (उ०)
यदा भूतपृथग्भावं एकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा। (गीता)

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा; गुह्यतमं ज्ञानं विज्ञानसहितं; पाप्मानं ज्ञानविज्ञाननाशनम्; गी०

एकेन विज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति।
आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।
भिद्यते हृदयग्रंथिः, छिद्यंते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि, तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ (उ०)

"ब्रह्मविद्या सब विद्याओं की प्रतिष्ठा, नीवी, नींव है। जब जीवात्मा संसार के असंख्य नाना पदार्थों को एक परमात्मा में स्थित, प्रतिष्ठित; और उस एक से इन सब का विस्तार, देख लेता है; तब उस का ब्रह्म अर्थात् ज्ञान

सम्पन्न परिपूर्ण हो जाता है; और वह स्वयम् ब्रह्ममय हो जाता है। सब विस्तार को एक मूल में बंधे देखना—यह 'फ़िलासोफी' है, ज्ञान, प्रज्ञान, है; एक मूल से सब के विस्तार को देखना, विशेष के साथ जानना, यह 'सायंस' है, विज्ञान है।[1] उस एक के जानने से सब वस्तु जानी जाती है। उसी आत्मा का दर्शन करना चाहिये। उसका दर्शन हो जाने पर हृदय की गाँठ कट जाती है, संशय दूर हो जाते हैं, कर्म क्षीण हो जाते हैं।"

'दर्शन' प्रयोग । व्यवहार में

यह सिद्धांत होकर भी, पुनः इस संशय में पड़ गया, कि आत्मदर्शन का प्रयोजन, उस का फल, क्या है; केवल आत्मदर्शी जीवात्मा की प्रातिस्विक, 'इंडिविड्यूअलिस्ट',[2] शख़्सी, इन्फ़िरादी, शांति और व्यवहार-त्याग, प्रयत्न-त्याग, कर्मत्याग, संबंधत्याग; अथवा सार्वजनिक, 'कलेक्टिविस्ट' 'सोशलिस्ट',[3] इज्माई, मुश्तरका, विश्वजनीन, सर्वजनीन, सुख समृद्धि के लिये, आत्मदर्शी का निरंतर प्रयत्न और व्यवहार-संशोधन। बुद्धदेव के बाद इसी मतभेद से हीनयान और महायान सम्प्रदायों के भेद बौद्धों में हो गये। तथा शंकराचार्य के बाद, हीनयान के समान आशय का, अर्थात् लोक-सेवा रूप व्यवहार के त्याग के भाव का, ज़ोर, 'दश-नामी' सन्यासियों वेदांतियों में अधिक हुआ; और रामानुजाचार्य ने महायान के सदृश लोक-सेवा लोक-सहायता के भाव को जगाया।

आत्मज्ञान, आत्मदर्शन, का प्रयोग स्वार्थ ही है, अथवा परार्थ भी है, यह इस समय भारतवर्ष में बहुत विचारने की बात है। भागवत में, तथा अन्य पुराणों में, इस का निर्णय विस्पष्ट किया है, और आर्य-सिद्धांत यही जान पड़ता है, कि आत्मज्ञान, लोक-व्यवहार के शोधन के लिये, परमोपयोगी है, और इस शोधन के लिये उस का सतत उपयोग होना ही चाहिये।

गुण और दोष तो द्वन्द्वमय संसार में सदा एक दूसरे से बंधे हैं।

सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।
नात्यन्त गुणवत् किंचिन् नात्यंतं दोषवत्तथा। (म० भा०)

यह भाव भी ठीक है कि

यतो यतो निवर्त्तते, ततस्ततो विमुच्यते।

---

[1] Philosophy; science.

[2] Individualist.

[3] Collectivist; socialist.

"जिधर जिधर से जीव हटता है, जिस का जिस का त्याग करता है, उस से उस से मुक्त होता है।" कैसे कहें कि ठीक नहीं है।

'संन्यास' का दुष्प्रयोग

पर इस में दोष यह देख पड़ता है कि, सच्चे विरक्त, संसार से सचमुच छुटकारा पाने की इच्छा करने वाले, सांसारिक वस्तुओं और व्यवहारों का निश्छल निष्कपट भाव से 'सन्यास' करने वाले, छोड़ देने वाले, बहुत कम देख पड़ते हैं। वैराग्य के बहाने शारीर स्वार्थ के साधने वाले, मिथ्याचारी, 'सन्यासी' का नाम और वेश धारण किये, गृहस्थों के समान सब प्रकार के धन सम्पत्ति सम्बन्धी व्यवहार करते हुए, मनुष्य, देश में बहुत बढ़ गये हैं। मनुष्य गणना से, प्राय: तीस, पैंतीस, स्यात् पचास, लाख तक आदमी, इस अभागे देश में, वैरागी, उदासी, सन्यासी, तकियादार, मुतवल्ली, फक़ीर, औलिया, पंथी, 'साधू'-संत', महंत, का नाम और वेश बनाये हुए, काषाय और 'दल्क़', अलफ़ी और ख़िर्क़ा, कंथा और गूदड़ी, की आड़ में, (जैसे यूरोप देश में 'मंक' 'नन' एबट' 'एबेस' 'फ़ादर-सुपीरियर' आदि), मठधारी, मंडलीश, सज्जादा-नशीन, स्वामी, गोस्वामी, पीठेश्वर, बने हुए, जवाहिर और गहने पहिनते, घोड़ा, गाड़ी, हाथी, और अब मोटरों, पर सवार होते, राजाई और नवाबी ठाठ से रहते, ऐश और आराम के दिन बिताते हैं: कभी कभी तो घोर पाप और जुर्म कर डालते हैं; और गृहस्थों के अन्य असह्य बोझों के ऊपर, राज-कर के भार आदि के ऊपर, अपना बोझ और अधिक लाद रहे हैं।

मंदिरों का दुरुपयोग

दूसरी ओर यह देख पड़ता है कि लोक-सेवा, लोक-सहायता, ईश्वर-भक्ति और परस्पर-भक्ति, सत्संग, इतिहास-पुराण-कथा, सदुपदेश, सर्वजनीन प्रेम, के प्रचार के लिये, बड़े बड़े मंदिर, बड़ी बड़ी संस्था, बड़ी बड़ी मस्जिद, दरगाह, ख़ानक़ाह, बनाई जाती हैं, और वे भी, थोड़े ही दिनों में, अपने सर्व-सत्ताक ('पब्लिक प्रापर्टी' के) रूप को छोड़कर, एक-सत्ताक ('प्राइवेट प्रापर्टी, इंडिविड्युअल या पर्सनल प्रापर्टी'[१] का) रूप धारण कर लेती हैं। एक दल, एक गुट, एक चक्रक, एक पेटक, एक कुल, एक व्यक्ति, की निजी जायदाद हो जाती हैं। कुछ साम्प्रदायिक संस्था तो ऐसी हैं, जिन में से एक एक में, हजार हजार, दो दो हजार, रुपया तक, प्रतिदिन, 'भोगराग' में ही खर्च हो

[१] Public property; private property, individual or personal property.

जाता है। थोड़े से आदमियों को, कहिये कुछ हजारों को, सुस्वाद भोजन का सुविधा होता है, पर करोरों गरीबों का बोझ घटने के बदले बहुत बढ़ता है। यदि इन संस्थाओं की लाखों रुपये सालाना की आमदनियां, सच्चे आत्म-दर्शन, अध्यात्मविद्या, आन्वीक्षिकी विद्या, के अनुसार, जनता की उचित वेद-वेदांग-इतिहास-पुराण-ज्ञान-विज्ञान के विविध शास्त्रों की शिक्षा, तथा चिकित्सा और विविध ललित कलाओं और उपयोगी शिल्पों की उन्नति, आदि के कार्य में लगाई जाय, तो आज भारतवर्ष का रूप ही दूसरा हो जाय। कई मंदिर ऐसे हैं, विशेष कर दक्षिण में, जिन में से एक एक की आमदनी आठ आठ, दस दस, पंद्रह पंद्रह लाख रुपये साल तक की कही जाती है। बिहार और उड़ीसा की महंती गद्दियों की संकलित, मजमूई, आमदनी, प्रायः एक करोर रुपया सालाना कही जाती है। कोई प्रांत, कोई सूबा, नहीं, जिस में हिंदू धर्मत्र देवत्र संस्थाओं और मुसलमानी वक़्फ़ों की आमदनी, पचासों लाख रुपयों की मीजान को न पहुँचती हो। यदि इस सब 'लक्ष्मी' का, उत्तम, शुद्ध, ब्रह्ममय और धर्ममय, आत्म-दर्शन के अनुसार, सत्प्रयोग, सदुपयोग, किया जाय, और इन सब संस्थाओं के 'साधु', सच्चे 'साधु' (साध्नोति शुभान् कामान् सर्वेषाम् इति साधुः) और विद्वान् शिक्षक, सच्चे आलिम और पीर, हो जायँ, तो सब 'युनिवर्सिटियों', 'स्कूल कालेजों' पाठशाला, मद्रसों, का काम, उत्तम रीति से, इन्हीं से निबहै; और इहलोक-परलोक-साधक, दुनिया और आक़बत दोनों को बनाने वाली, अभ्युदय-निःश्रेयस-कारक, ज्ञान-वर्धक, रक्षा-वर्धक, स्वास्थ्य-वर्धक, कृषि-गोरक्ष-वार्ता-वाणिज्य-शिल्प-पोषक, उद्योग-व्यवसाय-व्यापार-व्यवहार-शोधक और प्रोत्साहक, शिक्षा का प्रसार, सारे देश में हो।

आत्मज्ञानी ही व्यवहार कार्य अच्छा कर सकता है

सांख्य का रूपक है; पुरुष के आँख हैं, पैर नहीं; प्रकृति के पैर हैं, आँख नहीं; एक लंगड़ा है, दूसरी अंधी; दोनों के साथ होने से दोनों का काम चलता है। ब्रह्म और धर्म, ज्ञान और कर्म, शास्त्र और व्यवहार, नय और चार, नीति और प्रयोग, 'थियरी' और 'प्राक्टिस', 'सायंस' और 'ऐप्लिकेशन', इल्म और अमल, का यही परस्पर सम्बन्ध है। इसी लिये मनु की आज्ञा है,

सैनापत्यं च राज्यं च दंडनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं वा वेदशास्त्रविदर्हति ॥

"सेनापति का कार्य, राजा का कार्य, दंडनेता, न्यायपति, प्राड्विवाक, 'जज', 'मजिस्ट्रेट' का काम, अथ किम् सर्वलोक के अधिपति का, सम्राट्, चक्रवर्ती, सार्वभौम, का कार्य, उसी को सौंपना चाहिये, जो वेद के शास्त्र को,

वेद के अंत में, वेदांत में, अर्थात् उपनिषदों में, कहे हुए, वेद के अंतिम रहस्य को, जानता हो।

'प्रयोग' ही 'प्रयोजन'

'प्रयोजन' और 'प्रयोग' शब्द एक ही 'युज्' धातु से बने हैं। सत्‌ज्ञान का 'प्रयोजन', उस के संग्रह और प्रचार करने, सीखने सिखाने, का प्रेरक हेतु, यही है, कि उस का सत् 'प्रयोग' किया जाय; उस के अनुसार, चारो पुरुषार्थ साधे जायँ।

पुराणों से निश्चयेन जान पड़ता है कि, आर्यभाव, आत्मविद्या के विषय में, यही था कि, जब तक शरीर नितांत थक कर जवाब न दे दे, तब तक, वानप्रस्थावस्था में भी, जीवन्-मुक्त का भी, कर्त्तव्य था, कि लोक-संग्रह, लोक-व्यवहार, लोक-मर्यादा, के शोभन रक्षण में, यथा शक्ति, यथा सम्भव, यथावश्यक, सहायता करता रहे।

व्यास जी के विषय में कहा है—

प्रायशो मुनयो लोके स्वार्थैकांतोद्यमा हि ते।
द्वैपायनस्तु भगवान् सर्वभूतहिते रतः॥

प्रह्लाद का वचन है—

प्रायेण, देव !, मुनयः स्वविमुक्तिकामाः
स्वार्थं चरंति विजने, न परार्थनिष्ठाः।
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एकः,
नान्यं त्वद् अस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये॥ (भागवत)

"ऋषि मुनि लोग प्रायः 'स्वार्थ' से अपनी ही मुक्ति के लिये, एकांत मे, निर्जन, विजन, मे रहकर, ऐकांतिक यत्न करते हैं; किंतु भगवान् कृष्ण-द्वैपायन व्यास, निरंतर सर्वभूत के हित की चिंता में लगे रहे, और उनकी शिक्षा के लिये, अति सरस, रोचक, शिक्षक, ग्रंथ लिखते रहे।"

मनुस्मृति सनातन-वैदिक-आर्य-मानव-बौद्ध (बुद्धि-संगत) धर्म की नीवी है। उस के श्लोकों से साक्षात् सिद्ध होता है कि, वेदांत-शास्त्र, अध्यात्म-शास्त्र, आत्मज्ञान, आत्मदर्शन, को, प्राचीन काल में, ऋषि विद्वान् लोग, मानव धर्म का मूल और प्रवर्तक, नियामक, निर्णायक, मानते थे। आदि में ही, ऋषियों ने भगवान् मनु से प्रार्थना किया,

भगवन् सर्ववर्णानां यथावद् अनुपूर्वशः।
अंतरप्रभवाणां च धर्मान् नो वक्तुमर्हसि॥
त्वमेवैकोऽस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः।
अचिंत्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्वार्थवित्प्रभो॥

"अंतरप्रभावाणां च" के स्थान में "सर्वेषामाश्रमाणां च" भी पाठ देख पड़ता है और अधिक उपयुक्त, प्रसङ्गोचित, न्यायप्राप्त है।)

"भगवन्! सब मुख्य वर्णों के, और प्रत्येक वर्ण के अवान्तर वर्णों के, तथा सब आश्रमों के, धर्मों को, आप हमें बताइये; क्योंकि परमात्मा ब्रह्म से स्वयं उपजे स्वयंभू ब्रह्मा का विधि-विधान, हम लोगों के लिये अचिंत्य अप्रमेय, है; ध्यानमय, ध्यानात्मक, मानस सृष्टि के तत्त्व को, असलियत को, कार्य को, उस के अर्थ, मक़सद, मतलब, प्रयोजन को, आप ही जानते हो; इस लिये आप ही इन धर्मों को बता सकते हो।"

जो आत्मा और संसार के सच्चे स्वरूप को और प्रयोजन को नहीं जानता, वह धर्म का, कर्त्तव्य का, निर्णय नहीं कर सकता। हम क्या हैं, कहाँ आये, कहाँ जायंगे, जीना, मरना, सुख, दुःख, जीने का लक्ष्य, क्या है, क्यों है—जो मनुष्य इन बातों को नहीं जानता, वह कैसे निर्णय कर सकता है कि मनुष्य का कर्त्तव्य धर्म क्या है।

मनुस्मृति में और भी कहा है।

ध्यानिकं सर्वमेवैतद् यदेतद्-अभिशब्दितम्।
न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते॥
अज्ञेभ्यो ग्रंथिनः श्रेष्ठाः, ग्रंथिभ्यो धारिणो वराः।
धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठाः; ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः॥
भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः, प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
कृतबुद्धिषु कर्त्तारः, कर्त्तृषु ब्रह्मवेदिनः॥
सरहस्योऽधिगंतव्यो वेदः कृत्स्नो द्विजन्मना॥

"जो अध्यात्म-शास्त्र को नहीं जानता, वह किसी क्रिया को उचित रीति से सफल नहीं कर सकता। जो परमात्मा जीवात्मा के स्वरूप को नहीं पहिचानता, मनुष्य की प्रकृति को, उस के अंतःकरण की वृत्तियों और विकारों को, रागद्वेषादि के तांडव को, नहीं समझता, वह सार्वजनिक, विश्वजनीन, कार्य, राजकार्य आदि, कैसे उचित रूप से कर सकता है। पदे पदे भूल करेगा। ज्ञानियों में वही श्रेष्ठ हैं जो अपने ज्ञान के आधार पर सद्व्यवसाय, सद्व्यवहार, करते हैं; बुद्धिमानों में वे श्रेष्ठ हैं जो सत्कर्मपरायण कर्त्ता हैं, जो कर्त्तव्य कर्म से जान नहीं चुराते, मुंह नहीं मोड़ते; और कर्त्ताओं में वे श्रेष्ठ हैं जो ब्रह्मवेदी ब्रह्मज्ञानी हैं; क्योंकि वे ही ठीक ठीक कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का, धार्मिक और अधार्मिक कर्म का, सात्त्विक और तद्विपरीत कर्म का, विवेक कर सकते हैं।" गीता में बतलाया है कि सात्त्विक बुद्धि वही है जो प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय, बंध-मोक्ष, के स्वरूप को ठीक ठीक पहिचानती है, अर्थात् आत्मज्ञानवती है, वेद के रहस्य को जानती है।

धर्म-परिषत् में, अर्थात् जो सभा धर्म का व्यवस्थापन, परिकल्पन, व्यवसान, आम्नान करती है. उस में, यानी कानून बनानेवाली मजलिस में, आत्मज्ञानी, मनुष्य की प्रकृति के ज्ञानी, पुरुष की ही विशेष आवश्यकता है।

एकोऽपि वेदविद् धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो, नाऽज्ञानामुदितोऽयुतैः॥
अव्रतानां अमंत्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते॥ (मनु)
चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत् त्रैविद्यमेव वा।
सा ब्रूते यं सधर्मः स्याद्, एको वाऽऽध्यात्मवित्तमः॥ (याज्ञवल्क्य)

"एक अकेला भी सच्चा अध्यात्मवित्, वेदांत का, आत्म विद्या का, ठीक ठीक जानने वाला, अतः मनुष्य की प्रकृति को सूक्ष्म रूप से जानने वाला, देश-काल-निमित्त को पहिचानने वाला, विद्वान जो निर्णय कर दे, उसी को उत्तम, उपयोगी, लोकोपकारी, सर्वहितकर, धर्म-कानून जानना मानना चाहिये। मूर्ख, सदाचार-रहित, केवल जाति के नाम से जीविका चाहने वाले, यदि हजारों भी एकत्र होकर कहें, तो वह धर्म नहीं हो सकता।" इसी हेतु से, भारतवर्ष के क़ानून, अर्थात् स्मृतियाँ, सब अध्यात्मवित् महा-महर्षि, आदि-प्रजापति, आदिराज मनु भगवान् की, तथा उन के पीछे अन्य ऋषियों की, बनाई हुई हैं, जो दीर्घदर्शी, भावी सुफल दुष्फल के जानकार थे।

स्पष्ट ही मनु का आशय यह है, कि ब्रह्मज्ञानी आत्मज्ञानी को, जब तक शरीर में सामर्थ्य हो, लोक-व्यवहार के शोधन मे, लोक कार्य के भार के वहन मे, लगे रहना चाहिये। विरक्तंमन्य होकर, वैराग्य का ढोंग रचकर, अपने शरीर का स्वार्थ सुख साधने में लीन होकर, मिथ्या फकीरी, उदासीनता, नहीं करना चाहिये; समाज पर, राजकीय कर के भार से प्रपीड़ित गृहस्थों पर, भार नहीं होना चाहिये। उन से जो अन्न वस्त्र मिलता है, उस के बदले में, किसी न किसी प्रकार से, शिक्षा, वा रक्षा, वा अन्य सहायता से, सार्वजनिक कार्यों में परामर्श के, सलाह-मशिवरा के, अथवा जाँच-निग्रानी के, रूप में, उन को कुछ देना चाहिये। यदि वनस्थाश्रम पार कर के, शरीर अशक्त होने पर, सन्यासाश्रम में, भिक्षा से, माधुकरी वृत्ति से, शरीर यात्रा का साधन कर रहा हो, तो भी, "शुभध्यानेनैवानुगृह्णाति", अपनी मूर्ति, अपने आचरण, की सौम्यता और शांतता से ही, लोक का शुभचिंतन करने से ही, यदा कदा जिज्ञासुओं को सदुपदेश से ही, वह लोक का भारी उपकार करता है।

प्रशमैर् अवशानि लंभयन्नपि तिर्यंचि शमं निरीक्षितैः॥ (किरातार्जुनीयं)
अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर-त्यागः। (योगसूत्रम्)

ब्रह्ममय, शांतिमय, सर्वभूतदयामय, अहिंसामय महापुरुष के समीप, उन के स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर के पवित्र 'वर्चस्' ('औरा'[1]) के बल से, उन के पास जो मनुष्य, पशु, पक्षी, आ जाँय, उन में भी उतने काल के लिये, शांति का भाव भर जाता है। इस प्रकार से, आगे उद्धृत श्लोक चरितार्थ होते हैं, और साधु जन, सभी आश्रमों और वर्णों में, उन को चरितार्थ करते हैं। सैकड़ों वर्ष से, भारत में बड़ा विवाद मचा हुआ है, और इस पर बड़े बड़े ग्रंथ लिखे गये हैं, कि वेदांत शास्त्र, विशेष कर गीता शास्त्र, कर्म का निवर्त्तक है, किंवा कर्म का प्रवर्त्तक है। पहले कह आये हैं, कि गीता के शब्दों से ही, 'तस्माद् युध्यस्व भारत' 'मामनुस्मर युध्य च' 'मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि' आदि से ही, स्पष्ट सिद्ध होता है कि, कर्त्तव्यधर्मभूत कर्म मे गोता प्रवृत्त ही करती है। और मनु की आदिष्ट आश्रमव्यवस्था पर थोड़ा भो ध्यान देने से विशद हो जाता है कि, ऐसी बहस सब व्यर्थ है, उस के उठने का स्थान ही नहीं है। जब अत्यंत वृद्ध होकर आयु के चतुर्थ भाग में पहुँचै, तभी परिग्रह का, माल-मता का भी, और कर्मों का भी, 'सन्यास' करै। यही प्रकृति की आज्ञा है; इस लिये शास्त्र भी यही कहता है। हाँ, अपवाद तो प्रत्येक उत्सर्ग के होते हैं।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वं, एष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
परस्परं भावयंतः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।...
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥...
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचंत्यात्मकारणात् ।...
एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः ।
अघायुरिंद्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ (गीता)

"जो भी कर्म, परोपकार बुद्धि से किया जाय, वह 'यज्ञ'; बिना 'यज्ञ' के भाव के समाज में व्याप्त हुए, समाज पनप नहीं सकता; यह 'यज्ञ'-बुद्धि, परोपकार बुद्धि, ही, समाज की समष्टि और प्रत्येक व्यष्टि के लिये भी कामधेनु है; परस्पर विश्वास, परस्पर स्नेह प्रीति, परस्पर सम्वाद संगति, परस्पर सहायता, से ही समाज के सब व्यक्तियों को सब इष्ट वस्तु प्राप्त हो सकती है। जो दूसरे से लेता है, पर बदले में कुछ देता नहीं, अपने ही भोजन की फ़िक्र करता है, परमात्मा के चलाये हुए इस संसार-चक्र के चलते रहने के लिये अपना कर्त्तव्यांश नहीं करता, वह 'अघायु' है, 'अघभोजी' है, 'स्तेन' है,

---

[1] Aura.

चोर है, उस का खाना पीना, उस का जीवन, सब पापमय है, हराम है।"
यही अर्थ मनु ने और ऋग्वेद ने भी कहा है।

अघं स केवलं भुंक्ते यः पचत्यात्मकारणात्।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत् सतामन्नं विधीयते ॥ (मनु)

"दैनंदिन पंच महायज्ञ करने के बाद, जो भोज्य पदार्थ गृह मे बचै, उस का भोजन करना—यही सत्पुरुषों के लिये उत्तम अन्न है।"

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः, सत्यं ब्रवीमि बध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति, नो सखायं, केवलाघो भवति केवलादी ॥

(ऋग्वेद, मं० ७)

"अर्यमा सूर्य को भी कहते हैं; मित्र, सखा, दोस्त, को भी; सूर्य का एक नाम 'मित्र' भी है; जगत् के परममित्र सूर्य देव हैं। जो मनुष्य देव कार्य, पितृ कार्य, ऋषि कार्य, मित्र अतिथि कार्य, पश्वादि सर्वभूत कार्य, अर्थात् पंच यज्ञ कार्य, किये बिना, अपना ही उदर पोषण करता है, वह पाप ही का भोजन करता है वह अपने उत्तमांश का मानो बध करता है।"

हाँ, जब वानप्रस्थावस्था के योग्य, लोकसेवात्मक कर्त्तव्यों के योग्य, शक्ति शरीर में न रहे, तब अवश्य उन कर्मों का भी सन्यास उचित ही है। मनु की आज्ञा है।

आश्रमादाश्रमं गत्वा, हुतहोमो जितेन्द्रियः।
भिक्षाबलिपरिश्रांतः, प्रव्रजन् प्रेत्य वर्धते ॥

"ब्रह्मचारी से गृहस्थ, उससे वानप्रस्थ, होकर, जब 'भिक्षा देने' और 'बलि देने', अर्थात् आज काल के शब्दों में, विविध प्रकार की लोकसेवा के कर्म करने, से (एवं बहुविधाः यज्ञाः वितताः ब्रह्मणो मुखे—गीता), शरीर नितांत परिश्रांत हो जाय, तब उन को भी छोड़ दे।" गीता के 'एवं प्रवर्त्तितं चक्रं' आदि श्लोक का भी यही आशय है।

छांदोग्य उपनिषद् में भी यही कहा है।

यदेव विद्यया करोति, श्रद्धया, उपनिषदा, तदेव वीर्यवत्तरं भवति।

"जो भी कार्य, सांसारिक-जीवन-संबंधी, गार्हस्थ्य-वानस्थ्य-संबंधी, अथवा परलोक-संबंधी, आत्मविद्या के अनुसार किया जाता है, वह अधिक वीर्यवान्, गुणवान्, फलवान्, होता है।" जो आत्म-विद्या के विरुद्ध किया जाता है वह बहुत हानिकर होता है।

या वेदबाह्याः स्मृतयः, याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ताः निष्फलाः प्रेत्य, तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥
उत्पद्यन्ते च्यवंते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥

जो 'दृष्टियाँ', बुद्धियाँ, वेद के शास्त्र अर्थात् वेदांत के विरुद्ध हैं, अध्यात्मशास्त्र के अनुकूल नहीं हैं, वे बरसाती गुच्छियों की तरह रोज पैदा होती और मरती रहती हैं। उन से न इस लोक में अच्छा फल सिद्ध होता है, न परलोक में।" आज काल तरह तरह के 'इज़्म' 'वाद' जो निकल रहे हैं, 'सैनिक-राज्य-वाद', 'धनिक-राज्यवाद' आदि, उन की यही दशा है।

वर्णाश्रम-व्यवस्था की वर्त्तमान घोर दुरवस्था—अध्यात्मशास्त्र के प्रतिकूल आचरण करने से। अनुकूल आचरण से ही पुनः प्रतिष्ठापन व्यवस्थापन

जो आज काल चातुर्वर्ण्य और चातुराश्रम्य की घोर दुर्दशा हो रही है, उस में भी कारण यही है कि, उन का आध्यात्मिक तत्त्व, जिस का मूलरूप गीता तथा पुराणों में स्पष्ट प्रकार से किया है, भुला दिया गया है, और उस के विरोधी विचार पर आचरण किया जा रहा है।

> सात्विको ब्राह्मणो वर्णः क्षत्रियो राजसः स्मृतः।
> वैश्यस्तु तामसः प्रोक्तः, गुणसाम्यात्तु शूद्रता॥ (म० भा०)
> चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
> कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ (गीता०)

इस का स्पष्ट अर्थ यह है कि स्वभाव अर्थात् प्रकृति के तीन गुणों के अनुसार, सत्व-ज्ञान-प्रधान ब्राह्मण वर्ण, रजः-क्रिया-प्रधान क्षत्रिय वर्ण, तमः-इच्छा-प्रधान वैश्य वर्ण, गुणों के साम्य से शूद्र वर्ण, निश्चित होता है।

महाभारत में यक्ष-युधिष्ठिर सम्वाद में, तथा सर्प-युधिष्ठिर सम्वाद में, तथा शांति पर्व और अनुशासन पर्व में, तथा भागवत पुराण, पद्म पुराण, भविष्य पुराण, वायु पुराण, आदि में, पुनः पुनः "कर्मणा वर्णः" के सिद्धांत को स्थिर किया है। यह सिद्धांत सर्वथा अध्यात्म शास्त्र के अनुकूल है। किंतु इस को भुलाकर, किम्वा बलात् हटाकर, "जन्मनैव वर्णः' के अपसिद्धांत को ही वर्ण-व्यवस्था की नींव, आज प्रायः बारह सौ वर्ष से, स्वार्थी लोगों ने बना डाली है। इस से समग्र भारत की वैसी ही दुर्दशा हो गई है, जैसी बहुसत्ताक सार्वजनिक सम्पत्ति को कोई बलात्कार से एकसत्ताक निजी सम्पत्ति जब बना लेता है, तब अन्य आश्रितों की होती है।

मनु में, महाभारत में, शुक्रनीति में, अन्य प्रामाणिक ग्रंथों मे, पुनः पुनः कहा है, कि षड्भागरूपी भृति, वेतन, तनख़ाह, राजा को इसी लिये दी जाती है कि वह प्रजा की रक्षा करे। यदि नहीं करता, तो वह दंड पाने के

योग्य है, निकाल दिये जाने के योग्य है, उस के स्थान पर दूसरे को राजा नियुक्त करना चाहिये, इत्यादि; और मरने के बाद भी वह अवश्य नरक में गिरैगा।

षड्भागभृत्या दास्यत्वे प्रजाभिस्तु नृपः कृतः। (शुक्रनीति)
योऽरक्षन् बलिमादत्ते स सद्यो नरकं व्रजेत्।
दंडो हि सुमहत्तेजो दुर्धार्यश्चाकृतात्मभिः।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम्॥ (मनु)
एतांस्तु पुरुषो जह्याद् भिन्नां नावमिवार्णवे।
अरक्षितारं राजानं अनधीयानमृत्विजम्॥ (म० भा०)

पर, प्रायः यह देखा जाता है, कि राजा, शासक, पुरोहित, आदि अपने कर्त्तव्य को सर्वथा भूल जाते हैं; सब प्रकार के अधिकार अपने हाथ में रखना चाहते हैं; प्रजा को, आश्रितों को, जिज्ञासुओं को, तरह तरह की पीड़ा देते हैं; उन के साथ विश्वासघात करते हैं। अंग्रेजी में कहावत हो गई है कि 'किङ्ग्ज' और 'प्रीस्ट्स' अर्थात् राजा और पुरोहित, 'डिवाइन राइट बाइ बर्थ' का, 'जन्म से ही सिद्ध दैवी अधिकार' का, दावा करते हैं।[1] इन्हीं मिथ्या अभियोगों दावों से उद्विग्न होकर, प्रजा ने, देश देश में, बड़े बड़े विप्लव कर डाले हैं। ऊपर उद्धृत मनु के श्लोक में कहा है कि, बिना 'कृतात्मा' 'आत्मज्ञानी' हुए 'दंड शक्ति' का धर्म के अनुसार धारण और नयन करना सम्भव नहीं, और जहाँ धर्म से दंड विचलित हुआ, वहाँ वह दंड, राजा को, बंधु बांधव समेत, नाश कर देता है। इसी प्रकार पुरोहितों का भी प्रभाव नष्ट हो जाता है।

'हिताय पुरः अग्रे प्रहितः; पुरः एनं हिताय दधति जनाः इति पुरो-हितः।;',

'यह हमारा हित साधेंगे' इसलिये जिन को जनता आगे करै, चुनै, वे 'पुरो-हित'; जब वे हित के स्थान में अहित करने लगें, विश्वासघात करैं, ठगैं, तो अवश्य ही 'पुरोहित'-पद से भ्रष्ट होंगे, दूर किये जायंगे।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि, बिना वर्ण-आश्रम-व्यवस्था के, बिना 'सोशल आर्गेनिजेशन', 'तनज़ीमि-जमाअत' के, मनुष्यों को, न सामाजिक सुख, न वैयक्तिक सुख, मिल सकता है। और वर्ण-व्यवस्था का सच्चा हितकर रूप, बिना 'कर्मणा वर्णः' के सिद्धांत के अनुसार चले, कदापि सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि 'कर्मणा वर्णः' ही अध्यात्म-शास्त्र का सम्मत है। इस का विस्तार से प्रतिपादन अन्य ग्रंथों में किया है।

---

[1] Kings; priests; divine right by birth.

इस के विरुद्ध, केवल 'जन्मना वर्णः' के अपसिद्धांत पर, आज सैकड़ों वर्ष से, अधिकार के लोलुप, कर्तव्य से पराङ् मुख, अपने को 'पैदाइशी ऊंची' मानने वाली जातियों ने, जो दुर्व्यवस्था चला रक्खी है, उसी का भयंकर परिणाम यह है कि, आज, ढाई हज़ार से अधिक परस्पर अस्पृश्य जातियां हिन्दू नामक समाज में हो गई हैं; परस्पर ईर्ष्या-द्वेष, तिरस्कार, अहङ्कार से छिन्न-भिन्न, बलहीन, क्षीण हो रही हैं; भारत जनता ने, देश ने, स्वतंत्रता, स्वाधीनता, खो दिया है; दूसरों के वश में सारा देश चला गया है; और तरह तरह के क्लेश सह रहा है।

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ (मनु०)

वेद की आज्ञा है,

संगच्छध्वम्, संवदध्वम्, सं वो मनांसि जानताम्।
समानी प्रपा, सहवोऽन्नभागः, समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।

"साथ चलो, साथ बोलो, सब के मन एक हों, साथ में शुद्ध अन्न जल खाओ पीओ, साथ मिलकर उत्तम सर्वोपकारी कर्मों में लगो।" पर आज देखा यह जाता है, कि किसी का मन किसी से नहीं मिलता; सब अपने को एक से एक पवित्रतम मानते हैं; 'हम पैदाइशी ऊंचे, अन्य सब पैदाइशी नीचे,' यही ज़हरीला भाव फैला हुआ है; सच्चे शौच का, शुचिता का, सफ़ाई का, अर्थ सर्वथा भूला हुआ है; दूसरे नाम की जाति मात्र के आदमी के छू जाने से ही अपनी जाति, अपना धर्म, मर जाता है; यह महामोह, वैदिक धर्म को 'छुई मुई धर्म' बनाये हुआ है।

आत्मज्ञान की, आत्मदर्शन की, दैनंदिन व्यवहार में कितनी उपयोगिता है, इस का प्रमाण गीता से बढ़कर क्या हो सकता है?

योगः कर्मसु कौशलं। तस्माद् युध्यस्व भारत।
मामनुस्मर युध्य च ॥ इत्यादि।
इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमं।
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥

यह गुह्यतम ज्ञान, गुह्यतम शास्त्र, राज-विद्या, राजगुह्य, वेद-रहस्य, अध्यात्म शास्त्र ही वह शास्त्र है जिस के लिये गीता में यह भी कहा है कि—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।

क्या कार्य है, क्या अकार्य है, इस का अंतिम निश्चय निर्णय, इस परम शास्त्र, गुह्यतम शास्त्र, अध्यात्म शास्त्र ही के द्वारा हो सकता है, जिस को वेद का रहस्य, उपनिषत् भी कहते हैं ।

राज-विद्या, राजगुह्य

इस को राजविद्या, राजगुह्य क्यों कहा ? इस प्रश्न का उत्तर योगवासिष्ठ के उत्पत्ति प्रकरण के ११ वें अध्याय में दिया है । पहिले इस की चर्चा कर आये हैं, परंतु इस भूले हुए, नितांतोपयोगी, तथ्य का, पुनरपि दोहराना, याद दिलाना, उचित है, किम्वा आवश्यक है । क्योंकि इस को भूल जाने से, प्रतिपद याद न रखने से, काम में न लाने से, भारत जनता रसातल को चली जा रही है ।

कालचक्रे वहत्यस्मिन् क्षीणे कृतयुगे पुरा ।
प्रत्यहं भोजनपरे जने शाल्यर्जनोन्मुखे ॥
द्वंद्वानि संप्रवृत्तानि विषयार्थं महीभुजां ।
ततो युद्धं विना भूपा महीं पालयितुं क्षमाः ॥
न समर्थास्तदा याताः प्रजाभिः सह दीनताम् ।
तेषां दैन्यापनोदार्थं सम्यग्दृष्टिक्रमाय च ॥
ततो महर्षिभिः प्रोक्ताः महत्यो ज्ञानदृष्टयः ।
बहूनि स्मृतिशास्त्राणि यज्ञशास्त्राणि चावनौ ।
क्रियाकर्मविधानार्थं मर्यादानियमाय च ॥
धर्मकामार्थसिद्ध्यर्थं कल्पितान्युचितान्यथ ।
अध्यात्मविद्या तेनेयं पूर्वं राजसु वर्णिता ॥
तदनु प्रसृता लोके राजविद्येत्युदाहृता ।
राजविद्या राजगुह्यं अध्यात्मज्ञानमुत्तमं ॥

'सोशियालोजी', समाज-शास्त्र, के कुछ तथ्यों की भी सूचना इन श्लोकों में कर दी है ।

"मानव महाजाति के इतिहास मे, ऐसे काल, युग, जमाने, को सत्ययुग अथवा कृतयुग कहते हैं, जिस मे, मनुष्यों की प्रकृति सीधे साधे सरल स्वभाव के बच्चों की सी होती है; झूठ बनाने की बुद्धि ही उन को नहीं; सच ही बोलते हैं; इस से 'सत्ययुग' नाम पड़ा; जैसे बच्चे अपने माता पिता पर पूरा भरोसा करते हैं, और बिना पूछे कहे उन की आज्ञा को मानते हैं, वैसे ही उस

समय में, सब मनुष्य, ज्ञाति के वृद्धों की, प्रजापति, ऋषि, 'पेट्रियार्क', 'प्राफ़ेट'[1] 'नबी', नेताओं की, आज्ञा के अनुसार कार्य तत्काल कर देते हैं, 'कृतं एव, न कर्त्तव्यं', इस से 'कृत-युग' नाम भी इस को दिया गया। उस समय में, प्राय: बिना खेती बारी के उपजे, कंद, मूल, फल, तथा वृक्षों की छाल, वल्कल, आदि से, अन्न वस्त्र का काम चलता था। बाद में, समय बदला; मनुष्यों की संख्या बढ़ी; खेती आवश्यक हुई; उस के संबंध में झगड़े होने लगे; राजा बनाये गये; राजाओं में युद्ध होने लगे; सब मनुष्य चिंता-ग्रस्त, सब काम अस्त-व्यस्त, होने लगे। तब उस व्यापक दीनता, हीनता, क्षीणता, को दूर करने के लिये, वृद्धों ने, कठिन तपस्या करके, गम्भीर ध्यान करके, 'पुरुष' की 'प्रकृति' का, आत्मा-जीवात्मा-परमात्मा के स्वभाव का, स्वरूप का, दर्शन किया; और उस ज्ञान की शिक्षा अधिकारियों को दिया। तब राज-कार्य, समाज-धारण-कार्य, धर्म अर्थ काम मोक्ष के साधन का कार्य, अच्छी रीति से चलने लगा। राजाओं को प्रजापालन रूपी अपना परम कर्तव्य करने में सहायता देने के लिये, उचित मर्यादा और नियम का विधान करने के लिये, चित्त को स्वास्थ्य और हृदय को साहसी और शूर बनाने के लिये, यह महा ज्ञान 'दृष्टि', ज्ञानरूपी 'दर्शन', यह आत्मविद्या, सम्यग्दृष्टि, 'सम्यग्दर्शन' महर्षियों ने राजाओं को पहिले पहिल सिखाई। इसलिये इस का नाम राजविद्या, राजगुह्य, पड़ा।"

शुक्रनीति में कहा है कि राजा को चार विद्या सीखनी चाहिये। आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, और दण्डनीति। आजकाल के शब्दों में (१) 'फिलासोफ़ी' और 'साइकालोजी', (२) 'रिलिजन', 'थियोलाजी' और 'एथिक्स या 'मोरल्स', (३) 'इकोनामिक्स' (४) 'पालिटिक्स' और 'ला'।[2]

मनु ने भी कहा है—

> वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः शुचीन्।
> तेऽभ्योधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः॥
> आन्वीक्षिकीमात्मविद्यां वार्त्तारम्भांश्च लोकतः।
> त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्॥

---

[1] Patriarch; prophet.

[2] Philosophy, psychology; religion, theology, ethics, morals; economics; politics, law.

सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः ।
देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च ॥

"इसको जान कर, आत्मा के तात्त्विक स्वरूप को और सुख-दुःख के तत्त्व को पहिचान कर, हर्ष-शोक के द्वंद्व मोह में नहीं पड़ता; शान्त स्वस्थ चित्त से, फल में आसक्त न होकर, सब कर्तव्यकर्म दृढ़ता से करता है। यह आन्वीक्षिकी विद्या सब विद्याओं का दीपक, सब कर्मों का उपाय, सब धर्मों का आश्रय है। राजा को चाहिये कि विद्वान् वृद्धों की नित्य सेवा-शुश्रूषा करै, उनसे विनय (डिसिप्लिन) सदा सीखता रहै; आन्वीक्षिकी अर्थात् आत्मविद्या को, और धर्मशास्त्र और दण्डनीति को भी उनसे सीखै; तथा वार्ता अर्थात् वाणिज्य व्यापार का ज्ञान, लोक-व्यवहार को देख कर, सीखै।" राजकार्य करने वाले के लिये आत्मज्ञान परम उपयोगी है, सब कर्मों का उपाय है, सब धर्मों का आश्रय है—यह बात ध्यान देने की है। संन्यासावस्था में तो, सब योनियों में आत्मा की उत्तम और अधम गति का 'अनु-अव-ईक्षण' विचार, द्वारा पीछे-पीछे चल कर, खोज कर, देखना पहिचानना, उचित है ही।

बिना सदाचार के वेदान्त व्यर्थ

गीता में भी स्पष्ट कहा है, और दो बार कहा है—

लभंते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥
संनियम्येंद्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥

"सर्वभूतों, प्राणियों, के हित में सर्वदा रत हुए बिना ब्रह्मज्ञान सम्पन्न नहीं होता।"

आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः,
यद्यप्यधीताः सह षड्भिरंगैः ।
छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति,
नीडं शकुंता इव जातपक्षाः ॥

"दुराचारी जीव को, मृत्यु के समय, षड अङ्गों सहित भी पढ़े हुए वेद, सब छोड़ कर चले जाते हैं; जैसे पर होने पर, चिड़ियों के बच्चे, मल से भरे खोंते को छोड़ कर उड़ जाते हैं।" दुराचारी जीव का चित्त तो उन्हीं दुराचार की बातों को अन्तकाल में याद करता है; सब पढ़े लिखे को स्वयं भुला देते हैं।

भुला देता है। वेद-वेदान्त की पुस्तकों को कितना भी रट डाले, पर यदि तदनुकूल शुद्ध सदाचार न हो; घटाकाश, पटाकाश, मठाकाश, रज्जुसर्प, जपाकुसुम, शुक्तिरजत मरुमरीचिका, जगन्मिथ्या, ब्रह्ममाया, आदि शब्द जिह्वा से कितना भी बोले, पर यदि मन से निर्मम, निरहङ्कार, निस्स्वार्थ, शांत, दान्त, मैत्र, और शरीर से सद्धर्मानुसारी न हो; अथवा, यदि मन से और शरीर से, मनुष्य-सुलभ, अविद्याकृत, भूल चूक पाप हुए हैं, तो उनका पश्चात्ताप, प्रख्यापन, प्रायश्चित्त न किया हो, और गीता के शब्दों में, 'सम्यग्व्यवसित' न हो गया हो; तो उस मनुष्य को सद्गति नहीं मिल सकती।

ख्यापनेनाऽनुतापेन, तपसाऽध्ययनेन च।
पापकृन् मुच्यते पापात्...प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः॥
यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वाऽनुभाषते।
तथा तथा, त्वचेवाऽहिः, तेनाऽधर्मेण मुच्यते॥
यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति।
तथा तथा शरीरं तत् तेनाऽधर्मेण मुच्यते॥
कृत्वा पापं तु, संतप्य, तस्मात्पापात् प्रमुच्यते।
नैव कुर्याम् पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः॥ (मनु० अ० ११)
यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यंते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौंतेय सदा तद्भावभावितः॥
अंतकाले च मामेव स्मरन्, मुक्त्वा कलेवरम्॥
यः प्रयाति स मद्भावं याति, नाऽस्त्यत्र संशयः॥ (गीता)
याऽन्ते मतिः, सा गतिः। (आभाणकः)

"अपने किये पाप पर 'पछता' ('पश्चात्ताप') कर, किसी सज्जन सत्पुरुष से उसका 'प्रख्यापन' कर, तथा पाप का उचित 'प्रायश्चित्त' करके, मनुष्य पाप से छूटता है। ज्यों ज्यों वह पछताता है, ज्यों ज्यों वह दूसरों से कहता है कि मुझसे यह पाप हुआ, ज्यों ज्यों वह उस अधर्म कर्म की अपने मन में निन्दा करता है, ज्यों ज्यों निश्चय करता है कि अब फिर ऐसा न करूंगा, त्यों-त्यों उसका मन और शरीर शुद्ध होता है, और उस पाप से मुक्त होता है, जैसे सर्प पुरानी केंचुली से छूटता है। शरीर छोड़ने के समय, जिस भाव का स्मरण जीव करता है, वही भाव उसको नये जन्म में पुनः मिलता है। और जिस भाव का, अपने जीवन काल में उसने अधिकतर अभ्यास किया है, उसी का स्मरण अन्त समय होता है।" इसलिये, तीन आश्रमों में, धर्मानुसार, तीनो सहजात ऋणों को चुका कर, और सांसारिक भावो और वासनाओं का भोग और व्यय और क्षय करके, जो जीव, चतुर्थ आश्रम में, निष्काम, निर्मम, निरहंकार होकर, अंतकाल में, सर्वव्यापी, 'मां' 'अहं', आत्मा की धारणा करता हुआ, शरीर को छोड़ता है, वह, निःसंशय, परमात्मा को पाता है,

'मद्-भाव' को, 'मेरे' स्वभाव को, परमात्म-भाव, ब्रह्मभाव, सर्वव्यापकत्व भाव को, प्राप्त होता है, ब्रह्म में लीन हो जाता है।

धर्मसार, धर्मसर्वस्व, की नीवी—सर्वव्यापी चैतन्य आत्मा

ओर एक तत्व की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। सब धर्मों, सब मजहबों, का यह निर्विवाद सिद्धांत है कि,

> श्रूयतां धर्मसर्वस्वं, श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
> आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥
> यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिंतयेत्॥ (म० भा०)
> आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
> सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ (गीता)

"जैसा अपने लिये चाहो वैसा दूसरे के लिये भी चाहो। जो अपने लिये न चाहो वह दूसरे के लिये भी मत चाहो। जो अपने ऐसा सब का सुख-दुःख समझता है, वही सखा, परा काष्ठा का, योगी है।"

> अफ़ज़लुल् ईमानिउन् तोहिब्बा लिन्नासे मा तोहिब्बो
> लि-नफ़्सिका; व तक्रहो लहुम् मा तक्रहो लि-नफ़्सिका॥ (हदीस)
> डू अन्टु अदर्स ऐज़ यी वुड दैट् दे शुड् डू अन्टु यू। दिस इज़् दि होल्
> आफ़् दि ला ऐण्ड दि प्राफ़ेट्स॥ (बाइबल)

आचार नीति के इस व्यापक सिद्धांत को, जैसे मनु, कृष्ण, व्यास आदि ने कहा है, वैसे ही बुद्ध, जरथुस्त्र, वर्धमान महावीर जिन, मूसा, ईसा मुहम्मद आदि अवतारों, महर्षियों, पैग़म्बरों, मसीहों, रसूलों, नबियों, ऋषियों ने भी कहा है। केवल भाषा का भेद है, अर्थ का अणुमात्र भी भेद नहीं है। सिद्धान्त को कह कर सब यह कहते हैं कि 'यही धर्मसर्वस्व है', यही सब से ऊंचा 'अफ़ज़ल्' ईमान है, यही 'होल' अर्थात् समग्र धर्म और उपदेश है।

पर इस आचार के सिद्धान्त का हेतु क्या है? इसका हेतु एकमात्र आत्मज्ञान का परम सिद्धान्त ही है, अर्थात् एक परमात्मा, एक चैतन्य, सब में व्याप्त है। यदि ऐसा न हो, तो कोई भी स्थिर हेतु उस आचार-सिद्धान्त के लिये नहीं मिलता। यदि उपकर्त्ता वा अपकर्त्ता, उपकृत वा अपकृत से, सर्वथा भिन्न, सर्वथा पृथक्, होता, तो वह उसका उपकार वा अपकार ही न कर सकता, न लौट कर उसका फल उसको मिल सकता। दोनों सदा सम्बद्ध हैं; सब में एक ही चेतना व्याप्त है, इसी कारण से किसी को सुख वा दुःख देना, पुण्य वा पाप करना, अंततः अपने को ही सुख वा दुःख देना है, अपने ही साथ पुण्य वा पाप करना है। इसी लिये पुण्य वा पाप का फल अवश्य मिलता ही है; क्योंकि सचमुच कोई दूसरा तो है ही नहीं, जिसको सुख या दुःख दिया गया हो; 'दूसरा'—यह भ्रम है। भ्रम से 'दूसरा' समझ के 'दूसरे'

को दिया; असल में अपने ही को दिया। इस लिये घूम फिर कर, "शनैरावर्त्तमानस्तु" (मनु०), वह सुख वा दुःख, जहाँ से दिया जाता है, वहीं वापस आ जाता है। इसी हेतु से पाप के पीछे पश्चात्-ताप, और पुण्य के पीछे सन्तोष, पश्चात्-तोष, लगा हुआ है। अपने भीतर से ही, अन्तर्यामी, अन्तःसाक्षी, क्षेत्रज्ञ, अन्तरात्मा की प्रेरणा से ही, पाप के लिये पश्चात्ताप, फिर ख्यापन, और प्रायश्चित्त होना है। कभी देर में, कभी जल्द। इस प्रकार से, व्यापक 'ब्रह्म' ही व्यापक 'धर्म' का; सनातन परमात्मा ही, सनातनधर्म का, धर्मसर्वस्व का; वेद-वेदान्तोक्त आत्मा ही, वैदिक धर्म का; मानव (हृदि अयं) हृदय में स्थित चैतन्य ही, मानवधर्म का, धर्मसार और सार-धर्म का; एकमात्र आश्रय है।

'कारावास-परिष्कार', 'सैको-ऐनालिसिस', आदि

यहाँ प्रसंग-प्राप्त होने से, एक बात लिख देना उचित जान पड़ता है। तथा, इस ग्रन्थ का एक मूल सिद्धान्त यह है, कि अध्यात्मशास्त्र जीवन के सभी व्यवहारों के शोधन के लिये परमोपयोगी है, इसलिये भी वह बात न्याय-प्राप्त है। वह यह है। केवल पश्चात्ताप (नदम) अथवा प्रख्यापन, (एतराफ़), भी, पाप के मार्जन के लिये पर्याप्त नहीं है; प्रायश्चित्त, (कफ़्फ़ारा), भी जरूरी है; अर्थात्, पाप से जितना दुःख किसी को पहुँचाया है, उसके तुल्य स्वयं कष्ट सहकर, उसको, या उसके स्थानीय किसी दूसरे को, सुख पहुँचा देना चाहिये। आजकल 'प्रिज़न रिफ़ार्म'[1], कारागार-सुधार, की ओर जनता और अधिकारियों का ध्यान बहुत घूम रहा है। लोग विचारने लगे हैं कि क़ैदियों को, कष्ट नहीं, शिक्षा देना चाहिये; उनके ओर, वैर-निर्यातन (रिवेंज) और दंड ('पनिशमेंट')[2] का भाव नहीं, दया और सुधार का भाव रखना चाहिये। यह भाव, एक हद तक, निश्चयेन उचित है। पर, याद रखना चाहिये, कि सब मनुष्य, अतः सब अपराधी (मुजरिम), एक प्रकृति (फ़ितरत) के नहीं होते; चतुर्विध प्रकृति के लिये चतुर्विध दंड विहित हैं। और, अपराधी के ऊपर केवल दया करने का फल यह होगा कि अपराध बढ़ेंगे, और कारावास को, दुष्ट बुद्धि के लोग, आराम-घर समझ कर, वहाँ अधिकाधिक जाने का यत्न करेंगे। इसलिये, आवश्यक है, कि अपराधी को इस प्रकार की 'शिक्षा' दी जाय, जिससे उसके मन में सच्चा पश्चात्ताप 'उत्पन्न हो', और वह उस प्रकार का 'प्रायश्चित्त' भी स्वयं करे। 'सैको-ऐनालिसिस'[3] के शास्त्री

---

[1] Prison-reform.

[2] Revenge; punishment.

[3] Psycho-analysis इस ग्रन्थ के तृतीय अध्याय को देखिये; उसमें इस 'नये शास्त्र' की चर्चा की गई है।

लोग भी, इधर उधर भूल भटक कर, धीरे-धीरे, इसी निर्णय पर स्थिर होते जाते हैं, कि 'न्यूरोटिक', ('अपस्मार' आदि के प्रकार के) रोगी का 'री-एड्यूकेशन' होना चाहिये। जो गंभीर अर्थ पुराने 'री-जेनरेशन' 'री-बर्थ'[1] का है, उसका एक अंश इस नये शब्द में यथाकथंचित् आ जाता है। संस्कृत के बह्वर्थपूर्ण शब्द, 'द्वितीय-जन्म', 'उप-नयन-संस्कार', 'पुनः-संस्कार' आदि, इसी भाव को अधिक गंभीरता पूर्णता से कहते हैं।

दर्शन की पराकाष्ठा

प्रस्थान के भेद से दर्शनों का भेद होते हुए भी, दर्शन की परा काष्ठा यही है कि, जैसे पंचशिखाचार्य ने कहा है, 'एकमेव दर्शनम्, ख्यातिरेव दर्शनम्।' इस सूत्र की चर्चा पहिले भी इस अध्याय में आ चुकी है। 'सम्यक् ख्यानं ख्यातिः, संख्यान, संख्या, सांख्यं।' अच्छी रीति से जानना। 'सख्या' शब्द गिनती का वाचक इस लिये हो गया है कि, जब किसी विषय के सब अंगों की गिनती गिन ली जाती है, तब वह सर्वथा विदित, निश्चित, हो जाता है। विश्व में पचीस ही तत्त्व हैं, ऐसी गिनती जब गिन ली, तब विश्व 'सख्यात', सम्यग्ज्ञात, हो गया, और इस सम्यक्-ख्यान-शास्त्र का नाम 'सांख्य' शास्त्र हो गया। ऐसा भान होता है कि, भगवद्गीता के समय में सांख्य और वेदान्त का प्रायः वैसा भेद नहीं माना जाता था जैसा अब। वेदांत में सांख्य अंतर्गत था, तथा योग भी। गीता का श्लोक है।

> यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
> तत एव च विस्तारं, ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥

यहां, भूतों के पृथग्भाव को एकस्थ देखना—यह विशेष रूपसे वेदान्त का विषय कहा जा सकता है; तथा, उस एक में से सब पृथग्-भाव के विस्तार की, प्रधान, महान्, अहंकार, मनस् दस इंद्रिय, पंच तन्मात्र, पंच महाभूत, और इनसे बनी अनंत 'असंख्य' सृष्टि का संख्यान'—यह 'सांख्य' का विशेष विषय कहा जा सकता है। एक को 'ज्ञान', 'प्रज्ञान', 'मेटाफ़िज़िक्स', 'फ़िलासोफ़ी', दूसरे को 'विज्ञान', 'फ़िज़िक्स', 'सायंस' कह सकते हैं।[2] परम आत्मा में, मन का, विविध अभ्यास और वैराग्य से, योजन करना 'योग' है।

दर्शन तो एक ही है। आत्मा को, पुरुष को, प्रकृति से अन्य जानना, 'मैं यह शरीर नहीं हूँ', ऐसा जानना, यही आत्मा का दर्शन है; और कोई दूसरा दर्शन नहीं है। पुरुष, परमात्मा, के स्वरूप को जानना; प्रकृति, स्वभाव, माया, के स्वरूप को जानना, इन दोनों के परस्पर अन्यत्व-रूपी इतरत्व-रूपी सम्बन्ध

---

[1] Neurotic ; re-education ; re-generation; re-birth.

[2] Metaphysics; Philosophy; Physics; Science.

को जानना, अर्थात् यह जानना कि पुरुष 'की' होती हुई भी प्रकृति, पुरुष से अन्य है, भिन्न है; तथा 'अन्यन् न' 'अन्य' पदार्थ, परमात्मा से अन्य कोई वस्तु, है ही नहीं, असत् है; एक चेतन चिन्मय परमात्मा की एक चेतना का एक स्वप्न, सब अपने भीतर भीतर ही, ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञान-मय, एष्टा-इष्ट-इच्छा मय, कर्त्ता-कर्म-क्रिया-मय, भोक्ता-भोग्य-भोग-मय सुख-दुःख-मय, समस्त संसरण, खेल है क्रीड़ा, लीला, मनो-विनोद है—यही एक मात्र 'दर्शन' है।

इस वेदांत-दर्शन से, इसी में, अन्य सब दर्शनों का समन्वय हो जाता है।

रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

सर्वसमन्वय

दर्शनों पर अनन्त पोथियां लिखी गई हैं, लिखी जा रही हैं, और लिखी जायँगी।

नास्त्यंतो विस्तरस्य मे।

इस विस्तार में न पड़ कर, एक दो सूचना, दर्शन के ज्ञानसार, इच्छासार, और क्रियासार अंगों के विषय में, कर देना उचित जान पड़ता है। आर्ष-बुद्धि सदा, समन्वय, सम्मेलन, सौमनस्य, साम्मनस्य, सम्वाद, संगति, विरोध के परिहार, कलह के शमन, पर अधिक ध्यान देती रहती है।

सर्वसम्वादिनी स्थविरबुद्धिः।

इति नाना प्रसंख्यानं तत्त्वानां कविभिः कृतम्।
सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वात्, विदुषां किमसाम्प्रतम् ॥ (भागवत)
समानमस्तु वो मनो, समाना हृदयानि वः।
सं गच्छध्वम्, सं वदध्वम्, सं वो मनांसि जानताम् ॥ (वेद)

"बूढ़े आदमियों की बुद्धि, 'विवाद' करते हुए युवकों में 'सम्वाद,' मेल, कराने की ही फ़िक्र में रहती है। एक मन के, एक हृदय के, हो जाओ; समान विचार विचारो, समान बात बोलो, साथ साथ चलो। सृष्टि के, जगत् के, संसार के, मूल तत्त्वों की गिनती, व्याख्या, संख्या, कवियों ने नाना प्रकार से की है; सभी प्रकार, अपनी अपनी दृष्टि से, न्याय-संगत है; सब के लिये विद्वान् लोग युक्तियां बताते ही हैं; उनमें कोई अपरिहार्य विरोध नहीं है।"

यह बात इसी से प्रसिद्ध होती है कि, 'वेद भगवान्' के मूर्त्त रूप की उत्प्रेक्षामय कल्पना में, सब विद्या, सब शास्त्र, उसी के अंग और उपांग बनाये गये हैं। किसी का किसी से विरोध नहीं है, प्रत्युत सबकी सबके साथ सह-कारिता सहायता है। जैसा पहिले कहा,

मूर्तिमान् भगवान् वेदो राजतेऽङ्गैः सुसंहतैः ।
छन्दः पादौ स्मृतावस्य, हस्तः कल्पोऽथ पठ्यते ॥
मुखं व्याकरणं प्रोक्तं, शिक्षा घ्राणं तथोच्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुः निरुक्तं श्रोत्रमीर्यते ॥
आयुर्वेदः स्वयं प्राणः, धनुर्वेदो महाभुजौ ।
गान्धर्वो रससम्प्लावः शिल्पवेदोऽस्थिपंजरः ॥
कामशास्त्रं तु जघनं, अर्थशास्त्रमथोदरम् ।
हृदयं मानवो धर्मः, मूर्धा वेदान्त इष्यते ॥

"मूर्तिमान् भगवान् वेद के पैर छन्द हैं, हाथ कल्प, मुख व्याकरण, नासिका शिक्षा, नेत्र ज्योतिष, कान निरुक्त प्राण आयुर्वेद, भुजा धनुर्वेद, शरीर में रसों का सम्प्लाव गाधर्ववेद, अस्थि-पंजर शिल्पवेद (स्थापत्यवेद, अर्थवेद) कमर काम-शास्त्र उदर अर्थ-शास्त्र, हृदय मनूपदिष्ट मानव-धर्म, और मूर्धा वेदान्त है।"

स्वप्न और भ्रम भी, किन्तु नियम-युक्त भी

सब शास्त्रों के मूर्धन्य, इस अध्यात्म-शास्त्र का निष्कर्ष यही है कि, मैं, आत्मा, परमात्मा, अजर, अमर, अक्षर, अखंड, अव्यय, अक्रिय, अविनाशी, अपरिणामी, देश-काल-क्रिया से अतीत, अवस्था-निमित्त-भेद से परे, सब नामों-रूपों-कर्मों का धारण करने वाला भी, और उन सब से रहित भी, नित्य, सर्वगत, सर्वव्यापी, अचल, स्थाणु, सनातन, एकरस, चैतन्यमात्र 'है' और 'हूँ'। ये सब विशेषण, आत्मा में, 'मैं' में, और 'मैं' मे ही, किसी अन्य पदार्थ में नहीं, उपयुक्त चरितार्थ होते हैं। "मैं यह शरीर नहीं 'है', नहीं 'हूँ' "।

"नाहं देहो, न मे देहो"। यह ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-युक्त इच्छामय शरीर भी, और 'इदं', 'एतत्', 'यह' सब विषय रूप प्रतिक्षण-परिणामी, परिवर्ती, आवर्ती, विवर्त्ती, सदा विकारी, देश-काल-क्रिया से परिमित, नानामय, भेद-मय, नाम-रूप-गुण-दोषमय, नश्वर, चंचल, दृश्य, प्रत्यक्ष ही चक्रवत् चक्कर खाने वाला, 'भ्रमने' वाला, कुटिल गोल घूमने वाला, (कुटिलं च सततं च अहर्निशं गच्छति, जंगम्यते, इति) जगत्—'यह' सब मेरा, 'मैं' का, स्वप्न है, मन का खेल है।

पर खेल और स्वप्न होता हुआ भी नियमयुक्त, नियतियुक्त, मर्यादा-बद्ध, 'आर्डर्ड',[1] क़ायदों का पाबंद, है। द्वन्द्वमय है, इसी से नियमित है। जितना आय उतना व्यय, जितनी क्रिया उतनी प्रति-क्रिया, जितना गमन

[1] Ordered, (i. e. governed by laws, by a 'Whirled' World-Order)

उतना आगमन, जितनी रात उतना दिन, जितना उजेला उतना अँधेरा, जितना लहना उतना पावना, जितना लेना उतना देना, जितना रोना उतना हँसना, जितना सुख उतना दुःख, जितना जीना उतना मरना, जितना एक ओर जाना उतना दूसरी ओर जाना, घूम फिर कर हिसाब बराबर हो जाना, संकलन व्यवकलन, गुणन विभाजन, मिल कर शून्य हो जाना—यही मुख्य नियम है। तभी तो दोनों को मिलाकर, दोनों का परस्पर आहार विहार परिहार संहार कराकर, सदा निर्विकार, महाशून्य, महाचैतन्य, एकरस, क्रमातीत, 'ला-शै', 'ला-ब-शर्त्त-शै', 'ब-शर्त्त-ला-शै', 'ज़ात-ला-सिफ़ात', 'ज़ात-सादिज', सिद्ध होता है; और तभी अनन्त असंख्य द्वन्द्वों के दोनों प्रतिद्वन्द्वियों के, जोड़ों के, 'ज़िद्दैन' के, 'ज़ौजैन' के, क्रमिक प्रवर्त्तन, निवर्त्तन, विवर्त्तन, आवर्त्तन, अनुवर्त्तन से, संसार में सर्वत्र, सर्वदा, सर्वथा, प्रतिक्षण, प्रतिस्थल, प्रतिप्रकार, कुटिल गमन, चक्रवद् भ्रमण, 'भ्रम', देख पड़ता है। शरीर में रुधिर चक्कर खा रहा है, आकाश में 'ब्रह्म के अण्ड', पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा चक्कर खा रहे हैं, श्वास-प्रश्वास, जागरण-शयन, आहरण-विसर्जन, दिन-रात, शरद्-हेमन्तौ, शिशिर-वसन्तौ, वर्षा-ग्रीष्मौ, चक्कर खा रहे हैं।

संसार के जितने भी, जो भी, नियम हैं, वे सब, इसी क्रिया-प्रतिक्रिया, द्वंद्वी-प्रतिद्वन्द्वी, की तुल्यता और चक्रवद्भ्रमण रूपी मुख्य नियम के, जहाँ से चलना वहीं घूमकर लौटने के, अवांतर रूप ही हैं।

मुख्य द्वंद्व, मानव-जीवन में, जन्म-मरण, वृद्धि-क्षय, जागरण-स्वपन, सुख-दुःख हैं। इनके अवांतर मुख्य द्वन्द्व, जीवात्मा की व्यावहारिक दृष्टि से, ज्ञानांग में सत्य-असत्य (तथ्य-मिथ्या), इच्छांग में काम-क्रोध (राग-द्वेष), क्रियांग में पुण्य-पाप (उपकार-अपकार, धर्म-अधर्म) हैं। परमात्मा की पारमार्थिक दृष्टि से, "द्वंद्वैर्विमुक्ताः सुख-दुःख-संज्ञैः" की दृष्टि से, 'चिद्-अंग' में, सत्यासत्य के परे, और दोनों को संग्राहक, 'मा-या' ('ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'); 'आनंद्-अंग' में, राग-द्वेष के परे, 'शांति' ('योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते'); 'सद्-अंग' में, पुण्य-पाप से परे, 'पूर्णता', 'निष्क्रियता', ('पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते', 'न पुण्यं न च वा पापं इत्येषा परमार्थता')।

पारमार्थिक 'अभ्यास-वैराग्य' के द्वन्द्व से सांसारिक 'आवरण-विक्षेप' द्वन्द्वों का जय

मायादेवी अर्थात् 'अविद्या-अस्मिता' की दो शक्तियां, 'आवरण'-और-'विक्षेप'; इन शक्तियों के प्रथम मुख्य सन्तान कहिये, बाल-बच्च कहिये,

काम-क्रोध, राग-द्वेष, हैं; ये ही विविध रूप धारण करके, जीव की आँख पर, बुद्धि पर, 'दर्शन-शक्ति' पर, 'आवरण', शारीर अस्मिता-अहंकार का पर्दा, (मैं अनन्त अनादि अजर अमर परमात्मा नहीं हूं, मैं यह मूठी भर हाड़ मांस का नश्वर शरीर हूं, ऐसे भ्रम का पर्दा) डाल कर, उसको अन्धा बनाकर, सांसारिक शरीर-सम्बन्धी क्षोभों से 'विक्षिप्त' कर देते हैं; उसका 'वि-क्षेपण' 'प्रक्षेपण' कर देते हैं; 'सत्य-प्रिय-हित' मार्ग से बहका कर, असत्य-अप्रिय-अहित, अनुचित, अधर्म्य मार्ग पर, धक्का देकर दौड़ा देते हैं, लुढ़का देते हैं, धकेल देते हैं, इधर-उधर फेंक देते हैं। साधारण वार्त्तालाप में कहा जाता है कि काम-क्रोध-लोभ आदि आदमी को अन्धा कर देते हैं, उसको कुराह में दौड़ा देते हैं।

काम एष क्रोध एष...विद्धयेनमिह वैरिणम्।..
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥

कृष्ण के चार हज़ार बरस बाद मौलाना रूम ने भी इस तथ्य को पहिचाना और कहा है,

ख़श्मो शह्वत मर्द रा अह्वल कुनद।
ज़िस्तिक़ामत रूह रा मुब्दल कुनद॥
चूँ ख़ुदी आमद ख़ुदा पोशीदः शुद।
सद हिजाब अज़ दिल ब सूये दीदः शुद॥

ख़श्म और शह्वत, क्रोध और काम, आदमी को अह्वल, केकर, भेंगा, तिर्यग-दृष्टि बना देते हैं; रूह को, जीव को, इस्तिक़ामत से, सीधे मार्ग से बदल कर, टेढ़ी राह पर ले जाते हैं। जहाँ ख़ुदी (स्वार्थ) आई, वहाँ से ख़ुदा (परमार्थ) छिप जाता है और दिल से सौ हिजाब, पर्दे, निकल कर, आँखों पर पड़ जाते हैं।

जीव को, जीवन्मुक्तावस्था में भी, इनसे सदा सावधान रहना और सदा लड़ते ही रहना चाहिये। नहीं तो

'विरक्तंमन्यानां भवति विनिपातः शतमुखः।

"जो मनुष्य अपने को विरक्त मानने कहने लगते हैं, वे सौ सौ बेर नीचे गिरते हैं।"

परमात्मा के सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी, शारीर-'अहंता' से अतीत, सात्विक-'अहंता' के 'अभ्यास' से 'आवरण' शक्ति को, और सांसारिक विषयों की ओर 'वैराग्य' से 'विक्षेप' शक्ति को, तथा शम-दम-उपरति-तितिक्षा-श्रद्धा-समाधान रूप साधन-षटक से काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सर रूप षड्-रिपु

को, जीतना चाहिये ।, यदि इसमें कठिनाई हो, तो इन्ही के बल से इनको जीतने का जतन करना चाहिये, 'कँटकेनैव कटकं'। कुछ चोरों को आत्मीय बना कर, अपना कर, और पहरुआ गुप्त धार्मिक चौकीदार बना कर, बाकी चोरों को रोकना चाहिये । यथा--

> कामश्चेद् यदि कर्त्तव्यः, क्रियतां हरिपादयोः ।
> क्रोधश्चेद् यदि न त्याज्यः, पापे तं सुतरां कुरु ॥
> लोभो यद्यनिवार्यः स्यात्, धार्यतां पुण्यसंचये ।
> मोहश्चेद् बाधते गाढं, मूढो भक्त्या हरेर्भव ॥
> मदो मादयति त्वां चेद्, विश्वप्रेममदोऽस्तु ते ।
> मत्सरो यदि कर्तव्यो, हेतौ तं कुरु मा फले ॥

'हरति बधं दुःखं इति हरिः, हरः;' परमात्मा के कला-रूप, विभूतिरूप, किसी उत्तम इष्टदेव के, 'हरि' के या 'हर' के, चरणों के दर्शन-स्पर्शन को घोर कामना करो । 'आशिक़े जार हूँ मैं, तालिबे आराम नहीं' ।[1] क्रोध नही रुकता, तो पाप के ऊपर दिल खोल कर क्रोध करो न ? यदि लोभ नहीं मानता, तो पुण्य के सञ्चय करने में उसको लगा दो, और खूब पूरा करो । यदि मोह बाढ़ पर है, तो हरि-भक्ति में, हर-भक्ति में, अल्ला के इश्क़े-हक़ीक़ी मे, 'गाड' 'ख़ुदा' के 'डिवोशन' में, लोकसेवा में, 'ख़िदमते-ख़ल्क़' में, 'सर्विस आफ़ ह्यूमैनिटी' में, गूढ़-मूढ़ हो जाओ ।[2] यदि मद ज़ोर करता है, तो विश्वप्रेम के मद से मत्त, मस्त, भले ही होवो । यदि ईर्ष्या मत्सर का ग़लबा जज़बा है, तो फल पर हसद मत करो, फल के हेतु पर डाह पेट भर के करो; अर्थात् यह ईर्ष्या मत करो, कि फ़लाना ऐसा सुखी है और हाय मैं नहीं हूँ; बल्कि यह ईर्ष्या करो, कि जिन गुणों के कारण वा जिस पुण्यकर्म के हेतु से, ख़ैरात और सवाब के काम करने की वजह से, उसको ईश्वर ने, (या क़िस्मत, कर्म, स्वभाव, नियति, इच्छा, 'चान्स', 'फ़ेट', 'मैटर', 'नेचर',[3] ने, जिस किसी शब्द पर तुम्हारा मन लुभावै और विश्वास करै),

---

[1] अस्मिता-अहंकार से राग-द्वेष की, तथा इन दोनो से षट् की, और उनसे सैकड़ों मानस भाव-विकारों, क्षोभों, संरंभों, वेगों वा उद्वेगों, 'ईमोशन्स', 'जज़बात' की, उत्पत्ति कैसे होती है—इसका वर्णन, विस्तार से, The Science of the Emotions नाम की अंग्रेज़ी पुस्तक में, तथा संक्षेप से, "पुरुषार्थ" नाम की पुस्तक के 'रस-मीमांसा' नामक अध्याय में, मैंने करने का यत्न किया है ।

[2] God; devotion; service of humanity.

[3] Chance; Fate; Matter; Nature.

ऐसा सुख दिया है, वैसा पुण्यकर्म मैं क्यों नहीं करना। इस रीति से यदि इन छः रिपुओं के, अन्तरारियों के, अन्दरूनी दुश्मनों के साथ व्यवहार किया जाय, तो इनके रूप का परिवर्त्तन हो कर, ये छः सच्चे मित्र बन जायँ, ऐन हक़ीक़ी दोस्त हो जाय। अर्थात्, भक्ति; दुष्ट-दंडन शक्ति; परोपकारार्थ-विभूति-सञ्चय; करुणा-वात्सल्य के साथ-साथ 'धर्मभीरुता', (क्योंकि मोह में करुणा, तथा भय-प्रयुक्त किं-कर्त्तव्य का अज्ञान, दोनों मिश्रित हैं); शौर्य-वीर्य; दुबल-रक्षा—इन छः के रूप में ये छः परिणत हो जायँ। यद्यपि पुण्यकर्म सोने की साँकल, और पापकर्म लोहे की साँकल है, पर आत्म-दर्शी को भी, 'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि', 'मामनुस्मर युध्य च', के न्याय से, अपने हाथों अपने गले में सोने की शृंखला डालना, और फिर समय आने पर स्वयं उतार कर दूसरों को सौंप देना, उचित ही है। इसकी चर्चा भी उपनिषदों में, तथा मनुस्मृति में, भी है। आत्मदर्शन का यह आवश्यक व्यावहारिक उपयोग है।

दर्शन और धर्म से स्वार्थ भी, परार्थ भी, परमार्थ भी

केवल अनन्त वादों पर विवाद करके, बाल की खाल निकाल करके, नितांत व्यर्थ कालक्षय और शक्ति का घोर अपव्यय करना, यह दर्शन का उद्देश्य नहीं है। दर्शन तो वह पदार्थ है, जिससे जनता का ऐहिक भी, आमुष्मिक भी, पारमार्थिक भी, बाह्य सांसारिक व्यवहार में और आभ्यन्तर आध्यात्मिक व्यवहार में भी, कल्याण सधै; यदि नहीं सधता, तो जानना कि सच्चा दर्शन नहीं मिला; कोई कच्चा दर्शन ही मिला।

यदि शुद्ध सत्य दर्शन का प्रचार हो, (निरी कट-हुज्जत और शुष्क तार्किक नियुद्ध मल्लयुद्ध का नहीं), तो अन्य सब कामों की अपेक्षा अधिक कल्याण, लोक का, इससे होगा। क्योंकि परस्पर-प्रेम, परस्पर-सदाचार, सब कर्मों के उपाय, सब धर्मों के आश्रय, सब धर्मों के समन्वय, सब वादों के संवाद, सब शास्त्रों के मर्म, की कुञ्जी इसी में है।

आश्रयः सर्वधर्माणां, उपायः सर्वकर्मणाम्।
प्रदीपः सर्वविद्यानां, आत्मविद्यैव निश्चिता॥

यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः। (वैशेषिक-सूत्र)

"जिससे इस लोक में अभ्युदय की, त्रिवर्ग की, अर्थात् 'धर्म' से अर्जित रक्षित 'अर्थ' द्वारा 'काम' की, सिद्धि हो, तथा 'निःश्रेयस', 'मोक्ष', की भी सिद्धि हो, वही तो 'धर्म' है, 'सनातन धर्म' है"। 'सनातन' क्यों? तो,

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः। (गीता)

"सनातन, नित्य, सर्व-गत, सर्व-व्यापी, स्थाणु के ऐसा निश्चल, एक ही पदार्थ है—परमात्मा, ब्रह्म, चैतन्य, 'अहम्', 'मैं'।"

सोऽहमित्यग्रे व्याहरत्, तस्मादहं-नामाऽभवत् (बृ०उ०)
अहमिति सर्वाभिधानम् । (नृसिंह उ०)

"सब का नाम, सर्वनाम, 'अहम्', 'मैं', है; सभी अपने को पहिले 'मैं', तब पीछे अपर ('और', अन्य) नाम से, कहता है । 'मैं' राम, 'मैं' कृष्ण, 'मैं' बुद्ध, 'मैं' मूसा, 'मैं' जरथुस्त्र, 'मैं' ईसा, 'मैं' मुहम्मद, 'मैं' नानक, 'मैं' गोविन्द ।

इस सनातन ब्रह्म के स्वभाव पर, इसकी प्रकृति के तीन गुणों पर, सर्व-काल मे प्रतिष्ठित, सबदेश-काल-अवस्था में अबाध्य, जो धर्म हो, वही 'सनातन धर्म' हो सकता है । वह, गुण-कर्म के अनुसार, 'वर्ण—आश्रम' की व्यवस्था द्वारा, सामाजिक और वैयक्तिक जीवन की व्यवस्था करने वाला धर्म, वर्णाश्रम-धर्म ही, 'सनातन'-धर्म है । उसी से अभ्युदय-निःश्रेयस की सिद्धि मनुष्यमात्र को हो सकती है; अन्यथा नहीं । पर खूब याद रहै, 'गुणेन कर्म', और 'कर्मणा वर्णः' । 'जन्मना वर्णः' नहीं । 'जन्मना वर्णः' का अप-सिद्धांत, अ-सिद्धान्त, कु-सिद्धांत, नितांत दोषपूर्ण विचार, अंगीकार कर लेने से ही तो भारतवर्ष और भारत-जनता का 'धर्म', इधर सैकड़ों वर्ष से, नितरां 'अ-सनातन', प्रतिपद विशीयमाण, हो गया है । परस्पर भेद-भाव, ईर्ष्या-द्वेष, अहंकार-तिरस्कार, से भरकर, परस्पर-बहिष्कार से कलुषित होकर, सहस्रों पंथों, सम्प्रदायों, मतों, आचार-भेदों, मे छिन्न-भिन्न, ढाई हजार से अधिक जाति-उपजाति-उपोपजातियों को, वर्ण-उपवर्ण-उपोपवर्णों को, पैदा करके, यह 'हिन्दू' धर्म कहलाने वाला धर्माभास, मिथ्याधर्म, उसके मानने वाले और 'हिन्दू' कहलाने वाले समाज के साथ, प्रतिपद, प्रतिदिन, क्षय को प्राप्त हो रहा है । सच्चे सद्धर्म को तो सब-संग्राहक, सर्वाकर्षक, सर्व-प्रिय होना चाहिये । पर आजकाल, सैकड़ों वर्ष से, यह 'हिन्दू-धर्म', अध्यात्मशास्त्र और वेदान्त-दर्शन की भी दुर्दशा करके, सर्व-विग्राहक, सर्वविद्रावक, सर्वोद्वेजक, सर्व-कुत्सित हो रहा है; और कोटिशः मनुष्य इसको छोड़ कर अन्य धर्मों में चले गये, और जा रहे हैं ।

यदि प्राकृतिक, स्वाभाविक, नैसर्गिक, गुण-प्राधान्य के अनुसार जीविका-कर्म को, और जीविका-कर्म के अनुसार वर्ण अर्थात् 'पेशा' की, व्यवस्था के शुद्ध आध्यात्मिक सिद्धांत पर समाज का व्यवस्थापन, लोक का संग्रहण, किया जाय, तो आज यह क्षयरोग निवृत्त हो जाय, हिंदू-समाज' का रूप 'मानव-समाज' का हो जाय, 'हिन्दू' कहलाने वालों के आपस के वैमनस्य मिट जायँ, और भारत-वासी अन्य अ-हिंदू समाजों से भी 'हिन्दू'-समाज का वैर दूर हो जाय । जो वैर पुनः प्रतिदिन अधिकाधिक भयंकर रूप धारण कर रहा है । चार 'पेशों' और चार अवस्थाओं के साँचे-ढाँचे में सारी दुनिया के सब मनुष्य अपने-अपने मजहब और क़ौम को बदले

बिना, बैठाल दिये जा सकते हैं; और समाविष्ट किये जाने चाहियें। तभी मनु के ये श्लोक चरिता हो सकते हैं, जैसे होने चाहियें।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः, त्रयो वर्णाः द्विजातयः।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो, नास्ति तु पंचमः॥
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशाद् अग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

अर्थात्, "पुरुष की त्रिगुणात्मक, सत्त्व-रजस्-तमो-गुणात्मक, प्रकृति के अनुसार, तीन प्रकार के, द्वि-ज, द्वि-जात, मनुष्य, और एक प्रकार का एक-जाति मनुष्य, पैदा होते हैं। (१) सत्त्वाधिक, ज्ञान-प्रधान, विद्याजीवी, ज्ञानदाता, शिक्षक, विद्वान्; (२) रजोऽधिक, क्रिया-प्रधान, शस्त्रजीवी, त्राणदाता, रक्षक, वीर; (३) तमोऽधिक, इच्छा-प्रधान, वार्त्ताजीवी, अन्न-दाता, पोषक, दानी—यह तीन द्विज होते हैं। अव्यंजितगुण, अर्थात् जिसमें तीनों गुणों का साम्य है, तीन में से कोई एक गुण विशेष रूप से अभिव्यक्त नहीं हुआ है, श्रमजीवी, सर्वधारक, सर्वसेवक, सहायक—यह एक-जाति है। पाँचवीं प्रकार का मनुष्य, पृथिवी पर कहीं होता ही नहीं; जहाँ भी कहीं मनुष्य हैं, इन चार में से ही किसी न किसी प्रकार के हैं। एतद्देश, इस देश, भारतवर्ष, में उत्पन्न, 'अग्रजन्मा' से, आत्मज्ञानी, तपो-विद्या-सम्पन्न, श्रेष्ठ विद्वान् से, पृथिवी-तल के समस्त मनुष्यों को, अपने-अपने स्वभाव और गुण के उचित स्व-धर्म-कर्म चरित्र को, शिक्षा लेनी चाहिये। 'एतद्देश' ही के विद्वान् से क्यों? इसलिये कि मानव-जाति के उपलभ्यमान इतिहास में, भारतवर्ष में ही, वेदान्त-दर्शन अर्थात् अध्यात्म-शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार, वर्णों (अर्थात् पेशों, रोजगारों, जीविका-कर्मात्मक वर्गों) और आश्रमों के विधान से, समाज की व्यवस्था, बुद्धि-पूर्वक की गई है; अन्य देश में अब तक नहीं हुई। किंतु अब, सब देशों का संबंध हो जाने से, सब में फैलना चाहिये।

'द्विज' कौन और क्यों, तथा 'अग्रजन्मा' कौन और क्यों?

(मातुरग्रेऽधिजननं, द्वितीयं मौंजिबन्धने। मनु०
प्रथमं पृथिवी-लोके, आत्मलोके ततः पुनः।
द्विवारं जायते यस्मात् तस्माद् द्विज इति स्मृतः॥
अंतर्दृष्टिविकासेन, येनाऽत्मा सुसमीक्षितः।
स्वचित्तगुणदोषाणां परीक्षाकरणे क्षमः।
यश्च जातः, स एवास्ति द्विजात इति निश्चयः॥
मानवो जायमानो हि शिरसाऽग्रे प्रजायते।
ज्ञानेन्द्रियधरत्वाच्चाप्युत्तमांगं शिरः स्मृतम्॥
(नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। गीता
सर्वेषां पुरुषार्थानां ज्ञानं साधनमुत्तमम्।

निधीनामुत्तमश्चापि योऽयं ज्ञानमयो निधिः ॥
अतो यो ह्यात्मविज्, ज्ञानी, विश्वमित्रं, तपोमयः ।
'अग्रजन्मा' स वाच्यः स्यात्, नाऽन्यस्तं शब्दमर्हति ॥

"पहिला जन्म माता से, पृथिवीलोक में। दूसरा जन्म, आत्म-लोक में, अन्तर्दृष्टि के विकास से, जिससे आत्म-दर्शन होता है, और अपने चित्त के गुणों और दोषों की परीक्षा करने की क्षमता उपजती है। जिसको यह दूसरा जन्म हो जाय वही 'द्विज' है।

"मनुष्य का सिर आगे पैदा होता है, फिर धड़ और पैर; सिर ही में सब ज्ञानेन्द्रिय एकत्र हैं; इसलिये सिर को ही 'उत्तमाङ्ग' कहते हैं। सत्य ज्ञान के ऐसा, चित्त को और शरीर को पवित्र करने वाला दूसरा पदार्थ कोई नहीं है; सब पुरुषार्थों का उत्तम साधन सज्ज्ञान ही है; सब निधियों में, ज्ञान-धन ही उत्तम निधि है। इसलिये आत्मा का जानने वाला, ज्ञानी, विश्वजनीन, विश्व का मित्र, 'सर्वलोकहिते रतः', तपस्वी, निस्स्वार्थी, जो मनुष्य हो, वही 'अग्र-जन्मा' कहलाने योग्य है; दूसरे किसी को यह नाम, यह शब्द, केवल किसी कुल में जन्म होने से, नहीं मिल सकता।

'दर्शन' से गूढ़ार्थों का दर्शन

'दर्शन' शब्द का एक अर्थ दर्शनेन्द्रिय 'आँख' भी है। दर्शन शास्त्र के ठीक-ठीक अध्ययन से नई 'आँख' हो जाती है, जिससे 'पौराणिक' पुरानी बातों का अर्थ नया देख पड़ने लगता है, 'प्र-णवी'-भूत हो जाता है। सम्यग्दर्शन की 'प्र-णवी'-भूत आँख, भिन्न से भिन्न देख पड़ते हुए मतों में, एकता देख लेती है; देश-देश के वेष-वेष में अपने को छिपाते हुए बहुरूपिया 'मित्र' को 'यार' को, पहिचान ही लेती है।

मित्रस्य चक्षुषा पश्येम। (वेद)
ऐ ब चश्मानि दिल् म बीं जुज़ दोस्त।
हर चि बीनी बिदाँ कि मज़हरि ऊस्त ॥ (सादी)

"जो कुछ हम देखें, मित्र की, दोस्त की, आँख से देखें; सभी तो परमात्मा ही का, परम सखा जगदात्मा ही का, इजहार है, आविष्कार है।" 'मित्र' नाम सूर्य का भी है; साक्षात् सब के प्राणदाता सूर्य हैं, सर्वात्मा के 'वरेण्यं भर्गः', 'तजल्ली खास,' हैं। परमात्मा की दृष्टि से सब को देखो।

भागवत, महाभारत, आदि में बताया है कि, वैष्णव सम्प्रदाय में पूजित, 'वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध' के चतुर्व्यूह का, आध्यात्मिक अर्थ, 'चित्त, अहंकार, बुद्धि, मनस्' है; तथा आदिनारायण का अर्थ परमात्मा है। अन्य अर्थ भी कहे हैं, यथा, भागवत, स्कंध १२, अ० ११ में, उक्त चार को तुरीय, प्राज्ञ, तैजस, विश्व कहा है; तथा, विष्णु की चार भुजा, और शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि, आयुध और आभूषणों का भी अर्थ

कहा है। ऐसे ही, शैव सम्प्रदाय में, 'पंच ब्रह्म', अर्थात् 'सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष, ईशान' का आध्यात्मिक अर्थ, पंच महाभूतों में विद्यमान व्यज्यमान चैतन्य ही है। तथा शक्तिसम्प्रदाय में, 'दुर्गा' बुद्धि-शक्ति का, ज्ञान-शक्ति का; और 'राधा', 'प्राण-शक्ति' का, 'क्रिया-शक्ति का'; और 'उमा', 'इच्छा शक्ति', मूल-शक्ति, का, नाम है। तंत्र शास्त्र में 'ऐं' ज्ञानशक्ति का, 'ह्रीं' और 'श्रीं' क्रियाशक्ति का, तथा 'क्लीं' इच्छाशक्ति का, नाम है। इत्यादि।

'निरुक्त' नाम के वेदांग का उद्देश्य ही यह है, कि वेदों के शब्दों का 'निर्वचन', 'व्याख्यान', उचित रीति से किया जाय। अधिक ग्रन्थ इस विषय के लुप्त हो गये हैं; यास्क ही का 'निरुक्त' अब मिलता है, जो प्रायः दो वा ढाई हज़ार वर्ष पुराना कहा जाता है। इसमें बतलाया है कि वैदिक शब्दों और मंत्रों के कई प्रकार से अर्थ किये जा सकते हैं, और सभी अभीष्ट हैं; याज्ञिक (आधि-दैविक), ऐतिहासिक (आधि-भौतिक), और आध्यात्मिक। आधि-दैविक और आधि-भौतिक अर्थों में अवान्तर प्रकार भी हैं; यथा, एक मंत्र का अर्थ, ज्योतिःशास्त्र ('ऐस्ट्रोनोमी') के तथ्यों का भी संकेत कर सकता है; प्राणि-विद्या ('बायालोजी') के; शारीर-शास्त्र ('एनाटोमी-फ़िसियालोजी') के; पृथिवी-शास्त्र ('जीयालोजी, जीयोग्राफ़ी') के; वैशेषिक-शास्त्र ('फ़िज़िक्स-केमिस्ट्री') के; मानव-इतिहास प्रभृति के, भी। आपाततः, यह असम्भाव्य जान पड़ता है; किन्तु 'समता-न्याय', 'सम-दर्शिता-न्याय', 'उपमान-प्रमाण', पर गंभीर विचार करने से, 'जैसा एक, वैसे सब', 'ला आफ़ एनालोजी', पर ध्यान देने से, यह सर्वथा सम्भाव्य ही नहीं, अपि तु (बल्कि) निश्चित ज्ञान पड़ने लगता है। जैसे एक दिन में सूर्योदय, मध्याह्न, सूर्यास्त, वैसे एक वर्ष में वसन्त-ग्रीष्म, प्रावृट्-वर्षा, शरत्-शिशिर; वैसे एक जीवन में जन्म-स्थिति-मरण, बाल्य-यौवन, तारुण्य-प्रौढ़ि, वार्धक्य-जरा; यथा क्षुद्र-विराट्, वैसा ही महाविराट; जैसा मनुष्य का एक दिन वैसा ब्रह्मा का एक युग, महायुग, कल्प, महाकल्प आदि; जैसा एक मनुष्य का जीवन, वैसो एक मानव उपजाति, जाति, महाजाति, 'ट्राइब', 'सब-रेस,' 'रेस' का; जैसा अणु वैसा सौर-सम्प्रदाय; 'ऐज़ दी एटम्, सो दी सोलर सिस्टम्' ;'ऐज़ दी माइक्रोकाज़्म, सो दी माक्रोकाज़्म'।[१]

यावान् अयं वै पुरुषः यावत्या संस्थया मितः।
तावानसावपि महापुरुषो लोकसंस्थया॥ (भागवत, स्कंध १२, अ० ११)
त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि देहतः।...

---

[१] Astronomy ; biology ; anatomy-physiology ; geology, geography ; physics-chemistry ; law of analogy ; tribe, sub-race, race ; 'as the atom, so the solar system' ; 'as the microcosm, so the macrocosm'.

...ब्रह्मांडसंज्ञके देहे यथादेशं व्यवस्थिताः ॥ (शिवसंहिता)
शरीरस्थानि तीर्थानि प्रोक्तान्येतानि, भारत ।
शरीरस्य यथोद्देशः शरीरोपरि निर्मितः ।
तथा पृथिव्या भागाश्च, पुण्यानि सलिलानि च ॥ (म० भा०, अनुशा, अ० ७०.)

"मनुष्य के शरीर मे जो तत्त्व और अवयव हैं, वही तत्त्व और तादृश अवयव 'महाविराट्' में भी हैं; जैसे पिंडांड वैसा ब्रह्मांड। जैसे मानव-शरीर में विशेष-विशेष अवयव, मस्तिष्क, मेरुदंड, षट्चक्र, कन्द, नाड़ी आदि 'तीर्थ' हैं, 'तरण' के, संसार मे क्रमशः 'उत्तरण' के, तर जाने के, स्थान वा मार्ग हैं, वैसे ही पृथ्वी के विशेष विशेष गुण रखने वाले पुण्यस्थल हैं, मानव-शरीर के अवयवों के 'सम', 'समान', 'अनुरूप' हैं"। यद्यपि,

अत्युग्रभूरिकर्माणो नास्तिका रौरवा जनाः ।
तेऽपि तिष्ठन्ति तीर्थेषु, तीर्थसारस्ततो गतः ॥ (भागवत-माहात्म्य)

"वर्तमान कलिकाल में तीर्थों में प्रायः उग्र पाप करने वाले ही मनुष्य भर गये हैं, इसलिये सब तीर्थ सारहीन हो गये हैं।" आध्यात्मिक अर्थ ही इन सब अर्थों में मुख्य है; मनुष्य के निकटतम है; सब से अधिक उपयोगी है। वेदों में, और उनके पीछे, जब वेदों की भाषा और संकेत लोक में दुर्बोध्य हो गए, तब पुराणों और इतिहासों में, उस समय की बदली हुई बोली में, अर्थात् संस्कृत में, प्राचीन ऋषियों ने, वेद के आशयों को, आख्यानों और रूपकों में, लिखा।

भारतव्यपदेशेन वेदार्थमुपदिष्टवान् ।

"वेदव्यास जी ने वेद के अर्थ का महाभारत के बहाने से, लिख दिया"; जो सर्व-साधारण के समझने योग्य मन बहलाने वाले कथानकों द्वारा, शिक्षा देने मे समर्थ हैं। ये आख्यान अक्षरार्थ की दृष्टि से, बच्चों के लिए, मन-बहलाव के साथ-साथ, साधारण आचार-नीति की शिक्षा देते हैं; गूढ़ार्थ की दृष्टि से, परिपक्व बुद्धि वालों को गम्भीर शास्त्रीय तथ्यों की शिक्षा देते हैं।

किन्तु काल के प्रवाह से, उन पौराणिक ऐतिहासिक रूपकों का अर्थ भी वैसा ही दुर्बोध हो गया, जैसा वैदिक मंत्रों का। जैसे एक मनुष्य की, बीमारी से, चोट से, वा वार्धक्य से, प्राण-शक्ति क्षीण होने से, उसके शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, सभी दुर्बल हो जाते हैं; वैसे ही एक जाति वा समाज की संघ-शक्ति क्षीण होने से, उसका ज्ञान, उत्साह, शौर्य, समृद्धि, कला-कौशल, सभी शिथिल और क्षीण हो जाते हैं। सब ह्रासों का मूल-कारण शील-ह्रास है। इससे परस्पर के संबंध को, संहनन, संघात, संघत्व को, दृढ़ करने वाले स्नेह प्रेम विश्वास का ह्रास; उससे बुद्धि-बल-शौर्य-विद्या-लक्ष्मी-ह्रास, सभी सद्गुणों का ह्रास; महाभारत शांति पर्व में, बलि-इन्द्र की कथा से, यह दिखाया है। शील का सार कहा है—'अपने लिये जैसा चाहो वैसा दूसरे के लिये।'

'उत्तमांग', सब ज्ञानेन्द्रियों का, अंतःकरण का, आधार, सिर जब बिगड़ता है, तब सब बिगड़ता है; ज्ञान-प्रधान जीवों, समाज के शिक्षकों, में, जब शील विकृत हुआ, स्वार्थ और दम्भ बढ़ा, तब क्रमशः अन्य सब अंग, बाहु, उदर, पाद, सभी में विकार उत्पन्न हुआ; सारा समाज भ्रष्ट हुआ।

ब्राह्मणं तु स्वकर्मस्थं दृष्ट्वा बिभ्यति चेतरे।
नान्यथा, क्षत्रियाद्यास्तु, तस्माद् विप्रस्तपश्चरेत् ॥ (शुक्रनीति)

ब्राह्मण को अपने धर्म कर्म में, सात्त्विक तपःसंग्रह और सात्त्विक विद्या-संग्रह में, प्रवृत्त देखकर, क्षत्रियादि अन्य वर्ण भी डरते हैं, और अपने-अपने उचित धर्म-कर्म में लगे रहते हैं; अन्यथा, नहीं लगते; जब ब्राह्मण, तारक की जगह मारक, शिक्षक की जगह वंचक, हो गया; तो क्षत्रिय भी रक्षक के स्थान में भक्षक, और वैश्य भी पोषक के स्थान में मोषक, और शूद्र भी सेवक के बदले धर्षक हो जाते हैं। इसलिये ब्राह्मण की सब से अधिक उत्तर दायिता है, जिम्मादारी है; उसको सब से अधिक आवश्यक है कि वह सात्त्विक तपस्या में, और सात्त्विक विद्या के अध्ययन और प्रचारण में, सदा लगा रहे। पर ऐसा किया नहीं; तपस्या छोड़ दी, दंभ ओढ़ लिया; सद्विद्या खो दी, ठग-विद्या और कठहुज्जत गले लगाया। पौराणिक आख्यानों और रूपकों का सच्चा अर्थ भुला दिया गया; उनके संस्करण और सुप्रयोग के ठिकाने, दुष्करण और दुष्प्रयोग ही बढ़ता गया। उपयोगी और बुद्धिवर्धक शिक्षा देने के स्थान में अन्ध-श्रद्धा ही बढ़ाई गई। जो कथानक, स्पष्ट ही, बुद्धिपूर्वक निर्मित हैं, गढ़े हुए, बनाए हुए, 'रूपक' हैं, ('ऐलेगोरी' हैं); जिनके रूप ही से साक्षात् प्रकट होता है कि ये 'प्रतीक' ('फार्म्युला', 'सिम्बल') मात्र हैं;[१] थोड़े शब्दों में बहुत आशय और अर्थ रख देने के लिये मंजूषा मात्र हैं; उनकी भी व्याख्या अक्षरार्थ से ही की जाने लगी, और उसी अक्षरार्थ की ओर साधारण भोली जनता की अंध-श्रद्धा झुकाई गई, उनका मूढ़ग्राह बढ़ाया गया। कारण यही कि, व्याख्याता लोगों के पास शील नहीं, सद्बुद्धि नहीं, सद्ज्ञान नहीं, बहुश्रुतता-बहुज्ञता नहीं; उनके स्थान पर दम्भ, अहंकार, कपट, 'बैडाल-व्रतिकता' 'बकव्रतिकता' आदि बहुत; जिसका मनु ने उग्र शब्दों में धर्षण किया है। इसी लिये मनु ने, व्यास ने, यह भी कहा है—

इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो, मामयं प्रतरिष्यति ॥

"इतिहास-पुराण के द्वारा वेद का अर्थ समझना चाहिये। जो बहुश्रुत, बहुशास्त्रज्ञ, नहीं है, वह वेद के, अर्थ का अनर्थ कर डालैगा।" जब इतिहास-पुराण का ही अर्थ भूल गया, तो उससे वेद वेदान्त के सच्चे अर्थ का उपबृंहण, उदाहरण, विस्तारण, निरूपण, कैसे हो?

---

[१] Allegory ; formula ; symbol.

प्रत्यक्ष ही, प्रतिवर्ष कई बेर, सूर्यग्रहण चन्द्रग्रहण के अवसर पर, यह दृश्य देख पड़ता है; काशी ऐसे स्थान में, गंगा में स्नान करने को, लाख-लाख, दो-दो लाख, की भीड़, देहाती स्त्रियों पुरुषों की आ जाती है। उनको यही समझाया हुआ है, और समझाया जाता है, कि पुराणों में लिखा है कि, 'सिंहिका' राक्षसी के पुत्र का सिर विष्णु ने चक्र से काट डाला; सिर 'राहु' होगया; शरीर 'केतु' हो गया; सूर्य और चन्द्रमा ने, इशारे से, विष्णु को बताया था, कि सैंहिकेय भी देवों की पंक्ति में, उन दोनों के बीच में, अमृत पीने को, आ बैठा; इस द्वेष से, समय-समय पर, कटा सिर, जिसका नाम 'राहु' हो गया है, सूर्य और चन्द्रमा को निगलने के लिये दौड़ता है; स्नान करने से, और ब्राह्मणों को दान देने से ही, सूर्य और चन्द्रमा बच सकते हैं और बचते हैं। ऐसे मिथ्या प्रचार की किन शब्दों में निन्दा की जाय? ऐसे ही बहुविध शीलह्रास, सत्यह्रास, से ही तो भारत समाज का सर्वथा ह्रास हो रहा है।

मनु ने मानव-समाज की सभ्यता, शिष्टता, व्यवस्था, तहज़ीब, तन्ज़ीम, को 'दो त्रिकों' की दोहरी-तिहरी नीवी, नीव, आधार, बुनियाद, पर दृढ़तर प्रतिष्ठित करके ऊँची उठाया; "माता पिता तथाऽऽचार्यः" "ब्राह्मणाः क्षत्रियाः विशः", सतीमाता, सत्पिता, सद्आचार्य, तथा मातृस्थानी सद्वैश्य, पितृ-स्थानी सत्क्षत्रिय, आचार्यस्थानी सद्ब्राह्मण; तत्रापि, विशेष महिमा सती पतिव्रता और धर्मजात-संतति-व्रता माता की, सद्ब्राह्मण की, सत्क्षत्रिय की।

ज्ञानदो ब्राह्मणः प्रोक्तः, त्राणदः क्षत्रियः स्मृतः।
प्राणदो ह्यन्नदो वैश्यः, शूद्रः सर्वसहायदः॥
शिक्षको ब्राह्मणः प्रोक्तः, रक्षकः क्षत्रियः स्मृतः।
पोषकः पालको वैश्यः, धारकः शूद्र उच्यते॥
"उपाध्यायान् दशाचार्यः, शताचार्यांस्तथा पिता।
सहस्रं तु पितॄन् माता, गौरवेणातिरिच्यते"॥ (मनु०)

सती स्त्री की, सद्ब्राह्मण की, सत्क्षत्रिय (राजा) की, मनु ने, ऋषियों ने, देवों से भी अधिक प्रशंसा की है। परन्तु, जब यह असत्, दुष्ट, पापी, भ्रष्टाचार हो जायँ, तो वैसी ही घोर निन्दा भी, इन्हीं तीन की, किया है। तत्रापि, शिरःस्थानी, उत्तमांगस्थानी, दुराचार ब्राह्मण की अधिक; क्योंकि, जैसा पहिले कहा, जब सिर बिगड़ा, बुद्धि में विकार आया, दमाग़ ख़राब हुआ, तब सब बिगड़ा; जब तक बुद्धि ठीक है, तब तक और किसी अंग को पहिले तो बिगड़ने नहीं देती; और, दूसरे, यदि बिगड़ै तो बना लेती है।

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः।
अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति॥
न वार्यपि प्रयच्छेत्तु बैडालव्रतिके द्विजे।

न बकव्रतिके विप्रे, नावेदविदि धर्मवित् ॥
धर्मध्वजी सदालुब्धश्छाद्मिको लोकदम्भकः ।
बैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसंधकः ॥
अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः ।
शठो मिथ्याविनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः ॥
ये बकव्रतिनो विप्रा ये च मार्जारलिंगिनः ।
ते पतंत्यन्धतामिस्रे तेन पापेन कर्मणा ॥
न धर्मस्यापदेशेन पापं कृत्वा व्रतं चरेत् ।
व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्वन् स्त्रीशूद्रदम्भनम् ॥
प्रेत्येह चेदृशा विप्रा गर्ह्यन्ते ब्रह्मवादिभिः ।
छद्मना चरितं यच्च व्रतं रक्षांसि गच्छति ॥ (मनु)

"जो नामधारक, तपस्याहीन, विद्याहीन, अपने को ब्राह्मण बतलाने वाले, मिथ्या ब्राह्मण हैं, अच्छे ब्राह्मण नहीं है; जो बिड़ालव्रती, बकव्रती, हैं; भोली स्त्रियों और नासमझ पुरुषों का दम्भन करते हैं, उनको ठगते हैं, धोखा देते हैं, और अपने स्वार्थ के ही साधन में सदा तत्पर रहते हैं; ऐसे मिथ्या ब्राह्मण, जो दान लेते हैं, वे दान देने वालों को भी अपने साथ लेकर, नरक में गिरते हैं। ऐसे विप्र, जो व्रत आदि, लोक को दिखाने के लिये, ढोंग से करते हैं, उस व्रत से राक्षसों की, दुराचारियों की, ही पुष्टि होती है। सच्चे ब्राह्मण, ऐसे मिथ्या ब्राह्मणों की घोर निन्दा करते हैं।" यह मनु के श्लोकों का आशय है मूल के सब उग्र शब्दों का अनुवाद नहीं किया है। दाता, प्रतिग्रहीता, दोनों का नरक में पड़ना अपरिहार्य ही है, तथा 'राक्षसों' की वृद्धि। चाहे मूर्खता से ही, जो कोई, बिना जाँचे-समझे, पाप को छिपाये हुए और सज्जन का वेष धारण किये हुए पापी का, भरण-पोषण करेगा, वह प्रत्यक्ष ही देश में पापाचार को बढ़ावैगा, फैलावैगा: जिसका फल 'राक्षसों' और दुष्टों की वृद्धि, और सब के लिये नरक, तरह-तरह का दुःख।

ऐसी ही घोर निन्दा दुष्ट क्षत्रिय की, राजा की, की है।

दंडो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाऽकृतात्मभिः ।
धर्माद् विचलितं हंति नृपमेव सबान्धवम् ॥
तस्याहुः सम्प्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥
तं राजा प्रणयन् सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दंडेनैव निहन्यते ॥
अदंड्यान् दंडयन् राजा दंड्यांश्चैवाप्यदंडयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकं चाधिगच्छति ॥

यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्त्तिनः ।
स याति नरकानीमान् पर्यायेणैकविंशतिम् ॥
दशसूनासहस्राणि यो वाहयति सौनिकः ।
तेन तुल्यो (नृपः पापी), घोरस्तस्य परिग्रहः ॥ (मनु०)

"दंडनशक्ति प्रबल और तीक्ष्ण तेजःपुंज है; अकृतात्मा पुरुष, राजा जिसने सर्वव्यापी आत्मा का 'दर्शन' नहीं किया है, 'आन्वीक्षिकी' विद्या से आत्मा की प्रकृति का 'अन्वीक्षण' नहीं किया है, वह इस दंड-शक्ति का धारण और 'नयन', प्रयोग, उचित प्रकार से नहीं कर सकता है। यदि धर्म से वह शक्ति बिछल जाय, हट जाय, तो बन्धु बान्धव समेत राजा ही का विनाश कर देती है। सत्यवादी, निष्पक्षपाती, धर्म-अर्थ-काम के तत्त्व को जानने वाला, प्रज्ञानवान्, सद्विवेक से काम करने वाला, ही राजपुरुष, इस शक्ति का धारण प्रणयन करने के योग्य है। कामात्मा, विषमदर्शी, अन्यायी, क्षुद्रबुद्धि राजपुरुष, उसी दंडशक्ति से मारा जाता है। जो राजपुरुष अदंडनीय को दंड देता है, और दंडनीय को दंड नहीं देता, वह बड़ा अयश, अपजस, बदनामी, पाता है, और घोर नरक में पड़ता है। जो राजा लोभी, पापी, राजधर्मशास्त्र के विरुद्ध आचरण करने वाला है, उससे दान दक्षिणा लेना भी महापाप है; ऐसा राजा तो दस हजार सूना, 'बूचड़-खाना', क़स्साब-खाना', चलाने वाले सौनिक, 'क़स्साब,' बूचड़,' के बराबर है; क्योंकि वह लाखों करोरों ग़रीब प्रजा को पीड़ा देकर, उनसे धन चूस कर, अपने ऐश में उड़ाता है, और तरह-तरह के महा पाप करता है। ऐसे राजा से जो दाम लेता है, वह साक्षात् ही उसके पापों की सहायता करता है; इसलिये, उसके साथ, इक्कीस-इक्कीस नरकों में अवश्य पड़ता है।"

पुराणों के रूपकों का सच्चा अर्थ, ज्योतिष आदि शास्त्रों के शब्दों में व्याख्या करके, साधारण जनता को समझाना सिखाना चाहिये, जिसमें उनका सज्ज्ञान सद्बुद्धि बढ़े। सूर्य के चारो ओर सात (या दस या और अधिक) ग्रह जो घूम रहे हैं, और पृथ्वी के चारो ओर चन्द्रमा जो घूम रहा है, यही देवों की पंक्ति अमृतपान कर रही है। 'विसिनोति, विशति, सर्वान् पदार्थान्, इति विष्णुः', सब पदार्थों में पैठी हुई, सबको एक दूसरे से बाँधे हुए, सीये हुए, पारमात्मिक सर्वव्याप्त ज्ञान, का ही नाम 'विष्णु' है; वही ज्ञान, वही सर्वशक्तिमान् चैतन्य, सौर सम्प्रदाय को चला रहा है, अमृत पिला रहा है। सूर्य और चन्द्रमा के बीच में जब पृथ्वी आ जाती है, तब, पृथ्वी की छाया, चन्द्रमा पर पड़ कर, उसको, अंशतः या पूर्णतः, छिपा देती है; अथवा जब सूर्य और पृथ्वी के बीच में चन्द्रमा आ जाता है, तब चन्द्रमा की छाया पृथ्वी पर पड़ती है, और पृथ्वी पर बसने वाले मनुष्यों की आँख से, सूर्य, अंशतः छिप जाता है; इसी को, बच्चों को समझा देने के लिये, कहते हैं कि, देवों की पंक्ति में

सूर्य और चन्द्र के बीच में, अमृत पीने को, छल से, दैत्य आ बैठा. उसका सिर काटा गया, और वह सिर, तब से, सूर्य वा चन्द्र को निगलने का यत्न करता रहता है। बच्चे पूछा करते हैं, 'यह क्या है ?' 'ऐसा क्यों होता है ?' पर पूर्ण शास्त्रीय उत्तर समझ नहीं सकते; इसलिये ऐसे रूपक से उनको उत्तर देना उचित है, जो यदि सम्पूर्णतः सत्य नहीं है, तो सम्पूर्णतः मिथ्या भी नहीं है। जब बच्चा जरा सयाना हो, और सच्चा कार्य-कारण-भाव समझने की शक्ति उसके चित्त में उदय हो, तब उसको तथ्य समझा देना ही धर्म है; इसके बाद भी उसको रूपक के अक्षरार्थ पर ही विश्वास दिलाते रहना, और यह डराना, कि यदि श्रद्धा नहीं करोगे तो नास्तिक होगे, और नरक में जाओगे—ऐसा करना महापाप है; असत्य का, और अज्ञान, मिथ्याज्ञान, का, प्रचार करके, भोले मनुष्यों का दम्भन वञ्चन करना है, ठगना है।

ऐसे ही रूपक बहुतेरे इतिहास-पुराणों मे भरे हैं। यथा—(१) समुद्र में 'अनंत' और 'शेष' नामक सहस्र फण वाले सर्प पर विष्णु का सोना; उनकी नाभि से कमल का निकलना; उस कमल पर ब्रह्मा का उत्पन्न हो कर बैठना; विष्णु के कर्णमल से मधु-कैटभ दो असुरों का निकलना, और ब्रह्मा, को खा जाने का यत्न करना, विष्णु का उनको मारना; इत्यादि। (२) गणेश का, पार्वती के स्वेद से, उत्पन्न होना; उनका नैसर्गिक सिर काटा जाना; उसके स्थान पर हाथी का सिर, सो भी एक दाँत का, लगाया जाना; चूहे पर सवारी करना। (३) वृत्र-नामक असुर की उत्पत्ति और उसके उपद्रव; वज्र की उत्पत्ति; सुरों के राजा इन्द्र का, ऐरावत हाथी पर सवार हो कर, वृत्र को मारना; उस हत्या के पाप का, चार जीवसमुदायों में, चार वरदान देकर, बाँटना; पर्वतों के परों को, जिनके बल से वे पहिले उड़ते-फिरते थे, वज्र से काटना; (४) हिरण्याक्ष का, पृथ्वी को, समुद्र के भीतर डुबा देना; विष्णु का वराहरूप धारण करना, हिरण्याक्ष को मारना, पृथ्वी को उभारना; विष्णु के स्पर्श से, भूमि के गर्भ से, भौम अर्थात् मङ्गल नामक ग्रह (प्लानेट)[१] का उत्पन्न होना। (५) विंध्य पर्वत का इतना ऊँचा उठना, कि सूर्य का मार्ग रुकने लगे; देवों की प्रार्थना पर, ब्रह्मा का उनसे कहना कि अगस्त्य ऋषि से कहो, क्योंकि वे विंध्य पर्वत के गुरु हैं; देवों की प्रार्थना पर, अगस्त्य का, जो पहिले उत्तर दिशा में वास करते थे, दक्षिण को जाना; जब विंध्य पर्वत के पास आए, तब विंध्य का साष्टाङ्ग दंडवत् प्रणाम करना और कहना कि जो आज्ञा कीजिये वह करूं; अगस्त्य का आज्ञा देना, कि जब तक मैं दक्षिण से न लौटूं तब तक तुम ऐसे ही पड़े रहना। (६) दैत्य-दानवों से पीड़ित होकर, देवों का अगस्त्य से प्रार्थना करना, कि आप समुद्र को

[१] Planet.

उनकी पत्नी पार्वती; सिर पर से 'गंगा' का प्रवाह, जो आगे चल के, 'त्रिवेणी' हो गई; उस जगत्पावनी गङ्गा पर 'अविमुक्त' क्षेत्र, काशी, की स्थिति; वहाँ शिव का 'अविमुक्त' निरन्तर निवास; उस काशी वाराणसी में पहुँच कर जो जीव, शरीर त्याग के अनन्तर, 'ब्रह्मनाल' नामक वीथी (गली) से, 'मणिकर्णिका' तक पहुँचैं, उसको 'तारक' मन्त्र का उपदेश हो, और 'काश्यां मरणान् मुक्तिः', 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः', वह मोक्ष पावै। इत्यादि।

उदाहरण-रूपेण, बारह मुख्य रूपक ऊपर कहे। सैकड़ों अन्य मुख्य और गौण रूपक, ऐसे ही, इतिहास-पुराण में भरे हैं। जो थोड़ा भी विचार कर सकते हैं, उनके लिये स्पष्ट है कि यह सब आख्यान, किसी विशेष अभिप्राय से, बुद्धिपूर्वक, प्रोदः-व-दानिस्तः, रचे हुए हैं; स्वाभाविक, प्राकृतिक, इतिवृत्तों के वर्णन, नहीं हैं। इनके अक्षरार्थ को वास्तविक मनवाने का यत्न करना, मूर्खता फैलाने वाला कपट और दम्भ है; तथा मान लेना, अंध-श्रद्धा और मूढ़-ग्राह है। पर सैकड़ों वर्षों से, भारतवर्ष में, यही देख पड़ रहा है। एक ओर ऐसे छल कपट से, और दूसरी ओर ऐसी अंध-श्रद्धा से, सद्बुद्धि, सज्ज्ञान, सद्भाव, सदिच्छा, सद्व्यवहार का, कितना ह्रास हुआ है—यह भारत जनता की हीन-दीन दशा से, अधःपात से, ही प्रकट है। जब उत्तमांग-स्थानीय, धर्माधिकारी, धर्म-नेता, धर्म-व्याख्याता, किसी देश, किसी समाज, में, राजस-तामस दुर्बुद्धि-दुःशील-दुश्चरित्र का नमूना सबके आगे रक्खें, तो क्यों न जनता पर आपत्ति-विपत्ति आवै? यूरोप में भी, तथा अन्य देशों में भी, ऐसे ही कारणों से, जब पुरोहितों और राजाओं की, अर्थात् 'यूरोपीय ब्राह्मणों और क्षत्रियों' की, बुद्धि भ्रष्ट हुई, तब बड़े-बड़े विप्लव हुए हैं।

अविद्यायामंतरे वर्त्तमानाः स्वयंधीराः पंडितम्मन्यमानाः।
जंघन्यमानाः परियंति मूढाः, अंधेनैव नीयमाना यथांधाः॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च, बुद्धिः सा, पार्थ! तामसी॥ (गीता)

"जब अन्धों के नेता भी अन्धे हों, अविद्या ग्रस्त हों, पर स्वयं बड़े धीर-वीर पंडित होने का अभिमान करते हों, धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझते समझाते हों, तब नेता और नीत दोनों ही अवश्य नष्ट होंगे।"

रूपकों का अर्थ

ऊपर कहे हुए, तथा अन्य रूपकों में से कुछ के वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, आध्यात्मिक आदि व्याख्याओं का संकेत, किसी-किसी की पूरी व्याख्या, पुराण इतिहास निरुक्त आदि में किया है; पर ऐसे कोनों में, और ऐसे थोड़े में, कि उनकी ओर साधारण पाठक-पठक का ध्यान

नहीं आता; और उनको ढूँढ निकालना, खलिहान में से सूई ढूँढने के बराबर होता है। जिस प्राचीन काल में यह रूपकमयी संकेत-भाषा प्रथित रही होगी, उस समय इनका समझना सहज रहा होगा; जैसे आजकाल 'शार्ट-हैंड' जानने वालों को, या संस्कृत लिपि और भाषा जानने वालों को, या फ़ारसी लिपि और भाषा जानने वालों को, आपस में, एक दूसरे का लिखा समझना सहल है; दूसरों को नहीं। अब वह संकेत-भाषा बहुत कुछ भूली जा चुकी है; जैसे प्राचीन शिलालेखों, ताम्रपत्रों, इष्टका-लेखों के 'हायरोग्लिफ़', 'क्यूनिफ़ार्म अक्षर',[1] 'खरोष्ठी' आदि लिपि, भूली हुई हैं; विशेषज्ञ ही उनका अर्थ, सो भी सर्वथा निश्चयेन नहीं, लगा सकते हैं। एक कठिनाई और है; निश्चयेन मतलबी स्वार्थी लोगों ने, इन पुराण-इतिहास स्मृति आदि ग्रन्थों में, समय-समय पर, क्षेपक भी मिला दिये हैं। इन कारणों से ऐसे रूपकों का अर्थ करना दुस्साध्य हो रहा है। अध्यात्म-शास्त्र के दीपक के प्रकाश से, उसका विरोध न करके, आधिदैविक, आधिभौतिक, पाश्चात्य, पौरस्त्य, वैज्ञानिक शास्त्रों की सहायता से, थोड़ा बहुत सूझ पड़े तो सम्भव है।[2]

कुछ रूपकों की व्याख्या, कहीं-कहीं, प्रसङ्गवश, अपने अन्य ग्रंथों में, मैंने, यथाबुद्धि, करने का यत्न किया है; यद्यपि, अपनी बुद्धि और ज्ञान की क्षुद्रता के कारण, यह तो निश्चय है ही नहीं, कि व्याख्या ठीक है; तथा यह निश्चय है कि यदि ठीक भी है, तो 'सर्वतः संप्लुतोदक' समुद्र में से एक छोटे लोटे के इतना भी नहीं ग्रहण किया जा सका है। इस यत्न के समर्थन में इतना ही कह सकता हूँ, कि प्रचीन संस्कृत ग्रन्थों, और नवीन पाश्चात्य विद्वानों के ग्रंथों, के अनुसार ही व्याख्या की कल्पना की है; 'नवीन', 'मौलिक', 'अपूर्व', कल्पना करने की शक्ति तो मेरे पास ज़र्रा बराबर भी नहीं है।

उदाहरण-रूप से, केवल सूचनार्थ उक्त रूपकों में से कुछ की व्याख्या, संक्षिप्त, यहां लिख कर संतोष करूँगा।

(१) पृ० ५७-६० पर, पहिले ब्रह्मा शब्द का आध्यात्मिक दार्शनिक

[1] Hieroglyph; cuneiform

[2] इस रीति से वैदिक रूपकों का बुद्धिसंगत अर्थ करने का यत्न आर्यसमाज के विद्वानों ने आरम्भ किया है। श्री वासुदेवशरण के (जो अब लखनऊ के म्युज़ियम के 'क्युरेटर' हैं) लेख भी इस विषय के, अच्छे हैं। सन् १९२७ में, उन्होंने, ऐसे लेखों का संग्रह, 'उरुज्योति' के नाम से, छपाया है। अच्छा ग्रन्थ है। सूक्ष्म बुद्धि, उत्कृष्ट भाव, वेदाभ्यास, प्राचीन-प्रतीचीन-ज्ञान से लिखा गया है।

अर्थ, विस्तार से, कहा जा चुका है। जिस कमल पर ब्रह्मा का आसन है, उसका मार्मिक अर्थ यह है,

मानसस्येह या मूर्तिर्ब्रह्मत्वं समुपागता।
तस्यासनविधानार्थे पृथिवी पद्ममुच्यते ॥
तस्मात्पद्मात् समभवद् ब्रह्मा वेदमयो निधिः।
अहंकार इति ख्यातः सर्वभूतात्मभूतकृत् ॥

(म० भा०, शांतिपर्व, अ० १८०)

आकाश के कई नाम हैं, वरुण भी, समुद्र भी। "अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि," (वेद०) 'वरुण के, आकाश के, आश्चर्य अगाध हैं'। इस आकाश-समुद्र मे, किरण ('कोरोना'[1]) सहित सूर्य, स्वयं, कमल-पुष्पवत्, (अथवा वटपत्रवत्, क्योंकि इस अनन्त समुद्र में ऐसे पत्र और पुष्प, असंख्य, भरे हैं) सवमान हैं, तैर रहे हैं, उनके भीतर, उनके ऊपर, चेतनमय, 'आदित्य-नारायण' 'नराणां अयनं', आदि-शक्ति से उज्जीवित जीवों के बीज-समूह, लेटे हैं;

ध्येयः सदा सवितृमंडलमध्यवर्ती,
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः।

उनके नाभि से, सूर्य-गोलक के मध्य से, कमल-नाल के सदृश, आकर्षण-विकर्षण-शक्ति-रूपिणी 'रेखा', 'रश्मि', सात (वा दस वा अधिक) निकली हैं; उनमें से एक एक के सिरे पर, एक-एक ग्रह ('प्लानेट'[2]) विद्यमान हैं; उन ग्रहों में से एक पृथ्वी है; इसको भी पद्म, कमल, कहते हैं; और वास्तव में, आधुनिक स्थलमयी पृथ्वी, जलमय समुद्र के तल पर, पत्र फैला कर उलटे रक्खे हुए कमल के सदृश है; उत्तरी ध्रुव में उन कमल-पत्रों का मध्य अथवा नाभि है; महाद्वीप, एशिया, यूरोपाफ्रिका, अमेरिका आदि, उस कमल के पत्र हैं; बड़े-बड़े अंतरीप, ('केप'), यथा 'केप कामोरिन' (कन्याकुमारी), 'केप आफ गुड होप', 'केप हार्न', आदि, उन पत्रों के नोकें-टोंके, 'ऐपेक्स'[3], हैं; पृथ्वी के जीव-जन्तुओं की, चेतनाओं की बुद्धियों की अहंकारों 'अहंभावों' की, समष्टि का नाम, पृथ्वी-नामक ब्रह्म-के-अंड ब्रह्मांड की सूत्रात्मा का नाम, पार्थिव 'ब्रह्मा' है; इन ब्रह्मा की आसन-रूप, क्रीड़ास्थली, विकास-संकोच-भूमि, विस्तार-निस्तार-स्थान, जो यह पृथ्वी है,

---

[1] Corona. [2] Planet.

[3] Cape ; Cape Comorin ; Cape of Good Hope ; Cape Horn apex.

उसी को पद्म कहते हैं; 'पृथिवी पद्ममुच्यते'। जल के गोले पर, कमल को उलट कर, पत्र फैला कर, रख दो, तो 'ग्लोब' का रूप झट देख पड़ जाता है। जल को चिपटा फैला कर, उसमें से कमल की नाल ऊँची निकाल कर, उसके ऊपर, आकाश की ओर उसका मुख कर के, कमल के पत्ते खिला दो, तो 'रूपक' बिल्कुल बिगड़ जाता है।

ऐसे ही, 'जीविका-कर्मणा वर्णः' के सिद्धान्त से समाज संस्कृत परिष्कृत होता है, बनता है; 'जन्मना वर्णः' से सर्वथा 'विकृत' होता है, 'बिगड़' जाता है।

सर्वार्थान् कुरुते बुद्धिर् विपरीतांस्तु तामसी।

तामसी बुद्धि सब अर्थों को विपरीत कर डालती है।

षड्भागभ या दास्यत्वे प्रजाभिस्तु नृपः कृतः।

"अपनी कमाई में से छठां हिस्सा देकर, प्रजा ने, राजा को, अपना नौकर, चौकीदार, पहरुआ, रक्षा के लिये बनाया"; वह नौकर अपने को स्वामी समझने लगा; रक्षक से भक्षक बन गया; खादिम से हाकिम हो गया; सारी हवा उलट-पलट गई। ऐसे ही विद्वान् ब्राह्मण को, दान-मान देकर, प्रजा ने गुरु बनाया; उसकी बुद्धि ऐसी विपरीत हुई कि,

गुरवो बहवः संति शिष्यवित्तापहारकाः।
विरलाः गुरवस्ते ये शिष्यसंतापहारकाः॥

"शिष्य के वित्त का, धन का, अपहरण करने वाले, ठगने वाले, 'गुरु' तो देश में भर गये हैं; शिष्य के 'संताप' का, मानस शारीर दुःखों का, अपहरण निवारण करने वाले गुरु देख नहीं पड़ते।" यही कथा धनिकों की, 'वैश्यों' की, बुद्धि की विपरीतता की है; जो लक्षपति हैं वे कोटपति होना चाहते हैं; आश्रित सेवक वर्ग और प्रजा का, पर्याप्त मात्रा में, उचित प्रकारों से, अन्नवस्त्र से, भरण नहीं करते। ऐसे ही, 'सेवक' 'सहायक' 'शूद्र' वर्ग भी, 'द्विजों' के धर्मभ्रंश से, अपने धर्म-कर्म से भ्रष्ट हो रहा है। यह प्रसगतः।

आकाश समुद्र में 'अनंत-शेष' नामक महासर्प, असंख्य 'मडल' (गेंडुरी) बाँधे हुए, प्रत्यक्ष ही फैला है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह चैतन्य की 'शक्ति' है, जो सब ब्रह्मांडों को, तारों को ('आर्ब्ज आफ़ हेवन' को)[1] सर्प के मंडलों, आवेष्टनों, के आकार में सतत घुमा रही है। ज्योतिष-शास्त्र की दृष्टि से 'मिल्की-वे',[2] 'देवपथ', 'आकाश-गंगा', का भी रूप महासर्प का सा है; उसी के हजारों फणों, मंडलों, आवर्त्तों, चक्रों, में से एक के सिर पर रक्खा

---

[1] Orbs of heaven.

[2] Milkyway

हुआ, उसी का, एक अणु, हम लोगों का सौर-जगत् है। 'शेष' इस लिये कि, असख्य बेर सृष्टि-स्थिति-लय होते ही रहते हैं; विद्यमान सृष्टि से पूर्व जो सृष्टि, विगत कल्प वा महाकल्प में, हुई थी, उसी के 'शिष्ट', शेष', बचे हुए, प्राकृतिक तत्त्वों भूतों से यह नई सृष्टि बनी है। इसी हेतु से 'मनुः सप्तर्षयः चैव', 'शिष्ट' कहलाते हैं; पूर्व कल्प से 'अवशिष्ट', ठहर गये, हैं; इस कल्प के मानव जीवों को 'शिष्ट-आचार' की शिक्षा देने के लिये, उनको चतुः-पुरुषार्थ के साधन का उपाय बताने के लिये; जैसे पुरानी पुश्त, नई पुश्त को, पाल-पोस कर, लिखा-पढ़ा कर, जीविका का उपाय बता कर, रोजगार में लगा कर, अपने पैरों पर खड़ा कर, स्वावलम्बी स्वाधीन स्वतंत्र बना कर, तब, स्वयं आराम विश्राम करने के लिये, पर-लोक को चली जाती है; जब तक नई पुश्त ऐसी पुष्ट नहीं हो जाती, तब तक पुरानी पुश्त 'ठहरी' रहती है, 'शिष्ट' रहती है।

'मधु-कैटभ' की कथा, दुर्गासप्तशती में एक प्रकार से कही है; महाभारत, शांतिपर्व, अ० ३४७ में, दूसरे प्रकार से। रूपक ही तो हैं; भिन्न ग्रन्थों में, घटा-बढ़ा कर, प्रकार के भेद से, विविध रूप से कहे गये हैं। 'मधु' का अर्थ तमस्, और 'कैटभ' का रजस्, महाभारत के उक्त स्थान में कहा है। 'विष्णु' के 'कर्ण' के 'मल' से, अर्थात् श्रोत्रेंद्रिय सम्बन्धी आकाश-तत्त्व के विकार से, ये राजस-तामस भाव अधिक बढ़े; ब्रह्मा के सात्त्विक, ज्ञानमय, वेदों को, उन्होंने छीन लिया, और 'ब्रह्मा' का, बुद्धितत्त्व महत्तत्त्व का, नाश करने को उद्यत हुए। तब 'विष्णु' ने, सत्त्वप्रधान देव ने, बहुत वर्षों तक उन दोनों से युद्ध करके, उनको, "उस स्थान पर जहां पानी नहीं था" मारा; पुनः सत्त्व का, ज्ञान का, उदय हुआ; ब्रह्मा की विधि-विधानात्मक, क़ायदा-मर्यादा से बँधी, सृष्टि का सम्भव हुआ। इत्यादि।

'बायालोजी', 'प्राणिविद्या', की दृष्टि से, पृथ्वी के आदि-काल में में, लाखों वर्ष पूर्व, जब जंतुओं की सृष्टि का युग आया, तब बड़े-बड़े, सौ सौ और डेढ़-डेढ़ सौ फ़ुट लम्बे, 'राजस-तामस' जन्तु ('सौरियन्स')[1] उत्पन्न हुए। उस समय, पृथ्वी का तल, अधिकांश जल से आर्द्र, गीला, कीचड़ के ऐसा था। 'सलिलेन परिस्नुता'। लाखों वर्ष में, पृथ्वी-तल अंशतः शुष्क और घन हुआ; प्राचीन भयंकर 'दैत्य-दानव' प्राणी धीरे-धीरे नष्ट हुए; क्रमशः सत्त्वाधिक मनुष्यों की उत्पत्ति का युग आया। इत्यादि।

(२) गणेश के रूपक का अर्थ, 'समन्वय' नामक ग्रन्थ में मैंने विस्तार से करने का यत्न किया है; और उससे सम्बद्ध अन्य रूपकों का भी।

---

[1] Saurians.

(३) वृत्रासुर की कहानी, वर्षा ऋतु का रूपक है। यास्क ने 'निरुक्त' में ही ऐसा स्पष्ट कहा है। पर, ऐसा जान पड़ता है कि, यास्क के समय में वह सब ज्ञान भारत से लुप्त हो चुका था जो, इस सम्बन्ध में, अब पाश्चात्य विज्ञान ने पुनर्वार खोज निकाला है। यह रूपक, प्रति वर्ष की वर्षा का तो है हो; पर पृथ्वी पर जब वर्षा का प्रथम वार, आरम्भ हुआ, प्रायः उसका भी है। पाश्चात्य 'भूशास्त्र' ('जियालोजी')[१] बताता है कि, पूर्व युग में, लाखों बल्कि करोरों वर्ष पहिले, जब जल-स्थल का, समुद्रों और द्वीपों का, ऐसा विवेक और पार्थक्य नहीं था जैसा अब है, तब 'कार्बोनिक ऐसिड गैस'[२] के बड़े-बड़े बादल, पर्वताकार, उड़ते रहते थे। इसको पौराणिक रूपक में यों कहा है कि पर्वतों के पक्ष थे, पर थे। फिर जल-स्थल का पार्थक्य होने लगा। उस युग में प्राणियों के रूप दूसरे थे; और उसके पीछे, क्रमशः, वृक्षों, पशुओं, मनुष्यों के रूप में बहुत परिवर्तन हुआ—इसका वर्णन मार्कण्डेय पुराण से उद्धृत करके, नये समय के अंग्रेज़ी शब्दों में, मैंने अन्यत्र किया है[३]। क्रमशः, जल समुद्रों में एकत्र हुआ। सूर्य के ताप से भाफ उठ कर वर्षा का आरंभ हुआ। पहिले, हवा में, 'वृत्र-असुर' रूपिणी भाफ इतनी भरी कि 'देवताओं' का, अन्य प्राकृतिक शक्तियों का, काम रुकने लगा। आज-काल कल के कारखानों के 'एंजिनों' से धूंए के बादल निकल कर, आस-पास की, आदमियों की बस्ती को कितनी तकलीफ़ देते हैं, यह इसका प्रत्यक्ष नमूना है। 'इंद्र' ने 'वज्र' से, बिजली से, भाफ को मारा, वह मर कर जल रूप से पृथ्वी पर बह चली। 'इंद्र' के 'हाथी' का नाम 'ऐरावत' है; 'इराः आपः' इरा एक नाम जल का है; 'इरावान्, समुद्रः'। समुद्र से पैदा हुआ 'ऐरावत' हाथी भी एक प्रकार का मेघ ही है; 'वृत्र' दूसरे प्रकार का मेघ है। पाश्चात्य विज्ञान का कहना है कि 'पाज़िटिव' और 'नेगेटिव'[४] विद्युत् के सम्पात से, बिजली की ज्वाला, चमक, गरज, तड़प, आदि, उत्पन्न होते हैं। दधीचि ऋषि की हड्डी से इंद्र का वज्र बना; इसका भी अवश्य कोई रहस्यार्थ होगा; यहां वैज्ञानिकों की गवेषणा का प्रयोजन है; अस्थि में कोई विद्युज्जनक तत्त्व होगा; 'फ़ास्फ़ोरस'[५] तो होता है; उसमें चमक है; पर पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने विद्युत् से उसका सम्बन्ध तो स्यात् नहीं बताया है। वृत्र,

---

[१] Geology.

[२] Carbonic acid gas.

[३] *The Science of Social Organisation, or the Laws of Manu* Vol. 1, ch. 2.

[४] Positive ; negative.

[५] Phosphorus.

असुर होकर भी, 'त्वष्टा' नामक 'देवर्षि' का 'मानसपुत्र' था; इस लिये इन्द्र को ब्रह्महत्या लगी; (कहीं कथा के भेद से, वृत्र के बड़े भाई विश्वरूप के तीन सिर काट डालने से, इन्द्र को यह ब्रह्महत्या लगी; और वे तीन सिर तीन पक्षी हो गये, 'कपिंजल', 'कलविंक', और 'तित्तिरि'; यह रूपक के भीतर रूपक है; और इसका कुछ और गूढ़ अर्थ होगा)। उस ब्रह्महत्या को, चार जीवों में, चार वरदान के बदले, 'इन्द्र' ने बाँट दिया। पृथ्वी ने एक हिस्सा पाप का लिया; इससे कहीं-कहीं ऊसर हो जाती है; वरदान यह मिला कि खोदने से जो गढ़े हो जायँ, वे भर जायँगे। जल ने एक भाग लिया; काई, फेन, मल, उतराने लगा; रत्न भी, और बहुविध बहु-मूल्य पदार्थ भी, और जीव-जंतु भी होने लगे। वृक्षों ने एक हिस्सा लिया; निर्यास, गोंद, रूपी मल बहने लगा; पर डाली कट जाने पर फिर से नई डाल पैदा होने लगी। स्त्रियों ने एक हिस्सा लिया; मासिक मलिनता होने लगी; पर 'नित्यकाम' का वर मिला। पुराण का संकेत प्रायः यह है कि, वह मैथुनीय प्रकार, सन्तानोत्पत्ति का, जो अब देख पड़ता है, वर्षा-युग के आरंभ से पहिले नहीं था। मार्कंडेय आदि पुराणों में, स्पष्ट शब्दों में, दूसरे प्रकार, मानव-संतानन के, कहे हैं। यह 'नित्य-काम' उस समय में तो चाहे 'वर-दान' समझा गया हो, पर, मानव-जगत् की वर्त्तमान अवस्था में तो 'शाप-दान' हो रहा है। मनुष्यों की संख्या की अतिवृद्धि से 'जीवन-संग्राम', 'स्ट्रगल फ़ार लाइफ़',[1] बहुत भीषण दारुण हो रहा है।

यह सब इतिवृत्त (जो भू-शास्त्र का विषय है) पृथिवी के, और उससे सम्बद्ध पदार्थों और प्राणियों के, जीवन में अवस्था के परिवर्त्तन का, स्पष्ट ही वर्षा से सम्बन्ध रखता है। वर्षा से ही भूमि-तल में ऊसर और उर्वरा का भेद उत्पन्न होता है, और खातों की पूर्ति होने लगती है। जल बह कर निम्न स्थलों में एकत्र होता है। वृक्षों के व्रणों का अवरोपण होता है, जखम भर जाते हैं, नई डालियां, शाखें, शाखा, निकलती हैं। मानव-संसार में, पहिले, ऐसा अनुमान होता है, मासिक स्त्रीधर्म नहीं होता था; पुराणों में ऐसा संकेत है कि, एक युग, अति प्राचीन काल में, ऐसा हो गया है जब स्त्री और पुरुष का भेद नहीं था, "अमैथुनाः प्रजाः पूर्वम्"; फिर एक ऐसा युग ('एज')[2] आया जिसमें मनुष्य उभय-लिंग 'अर्धनारीश्वर' था; जैसा अब वृक्ष होते हैं; और कभी कदाचित् कोई कोई पशु, और मनुष्य भी, करोड़ों में एक हो जाते हैं। इत्यादि।

---

[1] Struggle for life.

[2] Age.

आध्यात्मिक शिक्षा, इन कहानियों की यह है कि एक गुण के साथ एक दोष लगा हुआ है।

नात्यंतं गुणवत् किंचिन् नात्यंतं दोषवत्तथा । (म० भा०)

हर कमाले रा ज़वाले, व हर ज़वाले रा कमाले ।

(४) हिरण्याक्ष की कथा, 'ऐस्ट्रानामी' और 'जियालोजी',[1] ज्योतिष-शास्त्र और भू-शास्त्र, के इतिवृत्तों का रूपक जान पड़ता है। पाश्चात्य भू-शास्त्रियों का तर्क है कि, किसी अति प्राचीन काल में, पृथ्वी में भारी उपप्लव, विप्लव, 'कैटाक्लिज़्म'[2], 'अधरोत्तर' हुआ, और एक बड़ा खंड टूट कर अलग हो गया; वही खंड क्रमशः चन्द्रमा बन कर पृथ्वी के आकर्षण से बँधा हुआ, पृथ्वी के चारों ओर, लाखों वर्ष से, परिक्रमा कर रहा है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने तो यहाँ तक नाप-तौल का हिसाब लगाया है कि, यदि चन्द्रमा का चूर्ण बना कर 'पैसिफ़िक' महासागर में भरा जाय, तो उसका विशाल गर्त्त ठीक-ठीक भर जायगा। पौराणिक रूपक का संकेत यह है, कि पृथ्वी के शरीर में भयंकर उत्पात हुआ; ऐतिहासिक दृष्टि से सम्भव है, कि उस समय में, हिरण्याक्ष नाम का महासम्राट्, मानव-जगत् पर राज्य करता हो; एक महाद्वीप समुद्र में डूब गया; दूसरा टूट कर आकाश में मँडराने लगा; क्रमशः गोल होकर, 'भूमि' का, अर्थात् पृथ्वी का, पुत्र 'भौम' अर्थात् मंगल ग्रह (अंग्रेजी में जिसको 'मार्स'[3] कहते हैं) बन गया। यह निश्चय करना, कि भूमि से चन्द्र निकला, अथवा मंगल निकला, महा-वैज्ञानिकों का, अथवा योगसिद्ध सूक्ष्मदर्शी महर्षियों का, काम है। रहस्य-विद्या के अन्वेषी कुछ सज्जनों का तो यह मत है कि, पृथ्वी से चंद्रमा नहीं, प्रत्युत चंद्रमा के शरीर से पृथ्वी के शरीर की उत्पत्ति हुई है, किंतु उपलब्ध पुराणों में इसका संकेत इस लेखक को नहीं मिला।

इस सम्बन्ध में, पुराणों के एक अन्य रूपक की भी चर्चा कर देना अनुचित न होगा। देवताओं के गुरु बृहस्पति के पास, चन्द्रमा, विद्या-ग्रहण के लिये, गये; उनकी पत्नी तारा को लेकर भागे; 'संग्रामे तारकामये', 'दिवि-स्थित' देवों में घोर संग्राम हुआ; अंत में ब्रह्मा ने, चंद्रमा से छीन कर, तारा को बृहस्पति के पास पुनः भेजा; चन्द्रमा से जो तारा को पुत्र हुआ, वह बुध, 'मर्क्युरी',[4] नाम का ग्रह हुआ; वह, एक बेर मानव-शरीर धारण कर, पृथ्वी पर आया; यहां उसका समागम, उभय-लिंग, अर्धनारी-

---

[1] Astronomy ; geology.

[2] Cataclysm.

[3] Mars.

[4] Mercury

अर्धपुरुष, सूर्यवंशी इला-सुद्युम्न के साथ, उस मासार्ध में हुआ, जिस समय 'इला' के शरीर में स्त्री की अवस्था अधिक व्यक्त थी; इला को पुरूरवा नामक पुत्र हुआ; उससे सोम-वंश चला। कृष्णपक्ष-शुक्लपक्षात्मक चांद्र मास से, स्त्रियों के आर्त्तव का, सम्बन्ध तो प्रत्यक्ष ही है। इला-सुद्युम्न की कथा में प्राय: इसका भी संकेत होगा। यह सब रूपक के भीतर रूपक, कथा के भीतर कथा, की अनन्त शृंखला है।

पाश्चात्य ज्योतिर्विदों का कहना है, कि बृहस्पति ग्रह के चारों ओर नौ चन्द्रमा घूमते हैं, जैसे अपनी पृथ्वी के चारों ओर एक ही; इन नौ में से चार उतने बड़े हैं जितना इस पृथ्वी का चन्द्र; अन्य बहुत छोटे हैं। उनका कहना यह भी है, कि सौर-जगत् की वर्त्तमान अवस्था, करोरों वर्ष तक आकाश में बड़े-बड़े उथल-पथल, परस्पर की खींचातानी, और तोड़-फोड़ के बाद, स्थिर हुई है। उनमें से बहुतों का मत यह है कि, आदि-काल में, एक महाज्योतिर्लिंग वा ज्योतिर्पिंड ('नेब्युला'[1]) का प्रादुर्भाव हुआ, जो कोटियों योजन, चारों दिशा में, तथा ऊपर-नीचे विस्तृत था; इसमें 'चक्र' के ऐसी 'भ्रमि' उत्पन्न हुई, और भ्रमि के वेग से, उससे टूट-टूट कर कई खंड उसके चारों ओर घूमने लगे, और क्रमश: अधिकाधिक घन होकर, सप्त, नव, वा दश, वा और अधिक, ग्रह बने। इस मूल तर्क में थोड़ा बहुत परिवर्त्तन किया गया है, पर अधिकांश अब भी पश्चिम में यही माना जाता है। इस विचार से, पौराणिक रूपक की संगति होती है। उस आदि-काल में जब 'तारकामय' संग्राम हो रहा था, संभव है कि, पृथ्वी के चंद्र, वा किसी अन्य 'देव' ने, अर्थात् स्वर्ग-आकाश के 'गोलक' ने, 'ब्रह्म के अंड' ने', बृहस्पति के नौ चन्द्र-ताराओं में से किसी एक को अपने आकर्षण के भीतर खींच लिया हो, और उनके टकराने से, एक टुकड़ा टूट कर 'बुध' बन गया हो, इत्यादि। बाद में, बुध से कुछ 'जीव', इस पृथ्वी पर, 'सूक्ष्म शरीर' में, आये हों, और यहां के मानव गर्भों में प्रविष्ट हुए हों; जैसे, सैकड़ों वर्षों से मनुष्य स्त्री-पुरुष, पृथ्वी के एक देश को छोड़ कर, दूसरे देश में जा बसते हैं अमेरिका की वर्त्तमान बस्ती सब यूरोप के देशों से गये हुए 'एमिग्रान्ट्स',[2] प्रवासियों, से ही बसी हुई है।

(५) अभी, १५ जनवरी, सन् १९३४ को भारत में, बिहार प्रान्त में, तथा नेपाल में, भारी भूकम्प हुआ; कितने शहर और ग्राम बरबाद हो गये, उस प्रान्त के पृथ्वीतल का रूप बदल गया, बीसियों हजार मनुष्य, पाँच-सात मिनट के भीतर-भीतर, मर गये। उसके बाद पाश्चात्य वैज्ञानिकों

---

[1] Nebula.

[2] Emigrants.

ने तथा भारतीय ज्योतिषियों ने, अपने-अपने शास्त्र के अनुसार, कारणों का अनुमान किया, और पत्रों में छपाया। अन्य बातों के साथ, पाश्चात्यों ने यह लिखा कि हिमालय पर्वत धीरे-धीरे ऊंचा होता जाता है। पृथ्वी के तल में स्थिरता नहीं है, कुछ न कुछ गति होती रहती है, कहीं ऊँचा कहीं नीचा होता रहता है; यथा, कृष्ण के शरीर छोड़ने के बाद, द्वारका समुद्र में डूब गई। भागवत में, कृष्ण के मुख से कहलाया है कि, 'पृथ्वी पर से मेरे चले जाने के बाद, द्वारका को समुद्र निगल जायगा।'

द्वारकां तु मया त्यक्तां समुद्रः प्लावयिष्यति। (भागवत)

पर बम्बई के नीचे का तीर ऊंचा हो रहा है। पौराणिक रूपक है कि परशुराम ने 'समुद्र से जमीन मांग कर' अपना आश्रम बसाया, और नये ब्राह्मण बनाये; क्योंकि पुराने ब्राह्मणों ने उनको पृथ्वी छोड़ देने को कहा, जिन्ही ब्राह्मणोंके उपकार के लिये उन्हों ने, प्रजापीड़क, उद्दंड प्रचंड, दुर्दान्त क्षत्रिय राजाओं का, अन्य तीनवर्णों की सेना बना कर, दमन किया था। इसके विपरीत, भारत का पूर्वीय तीर डूबता जाता है। विशाखपत्तन '(वैजागापटाम)' नगर में, विशाख (अर्थात् स्वामिकार्तिक, कार्तिकेय, साम्ब, षण्मुख) का विशाल मंदिर, जो पहाड़ी के ढार पर, ऐन समुद्र के किनारे बना था, वह अब समुद्र के जल के भीतर चला गया है; सारा पहाड़, क्या सारा तीर, धीरे-धीरे धँस रहा है।

ऐसे ही, कोई समय ऐसा था, जब विन्ध्य पर्वत उठ रहा था; उस समय अगस्त्य का तारा उत्तर में था। पाश्चात्य ज्योतिषियों का कहना है, कि पृथ्वी की दो ही गति नहीं हैं अर्थात् अपने अक्ष पर घूमना, और सूर्य के चारो ओर घूमना; अपि तु ग्यारह या तेरह गतियां हैं; अक्ष भी अपना स्थान कई प्रकार से बदलता रहता है; इस लिये ध्रुव तारा भी बदलते रहते हैं; जो तारा अब उत्तरी ध्रुव तारा है, वह पंद्रह हजार वर्ष पहिले ध्रुव तारा नहीं था, दूसरा था; पौराणिक कथा है कि, उत्तान-पाद' के पुत्र 'ध्रुव' को, विष्णु ने वरदान देकर, ध्रुव का स्थान दिया; उनकी पत्नी का नाम 'भ्रमिः', (अर्थात् चक्कर खाना, गोल घूमना); उनके पुत्र, 'कल्प' और 'वत्सर', इत्यादि। इन नामों से ही स्पष्ट देख पड़ता है कि, यह कथा ज्योतिष का रूपक है। ध्रुव की कथा (भागवत, स्कंध ४, अ० ९) में यह भी कहा है कि, 'षट्त्रिंशद् वर्षसाहस्रं', छत्तीस हजार वर्ष तक ध्रुव का राज्य रहैगा, अर्थात् इतने वर्ष के युग के बाद अक्ष का स्थान बदलेगा, और कोई दूसरे तारा की ओर, उत्तरी कोटि, अक्ष की, वेध करैगी। अक्ष के स्थान में यहां तक परिवर्तन होता है कि, उत्तरी ध्रुव दक्षिणी, और दक्षिणी ध्रुव उत्तरी, हो जाता है, जैसे शीर्षासन में मनुष्य का सिर नीचे और पैर ऊपर हो जाता है। इस पूर्ण परिवर्तन में, लाखा बल्कि करोरों वर्ष लगते

हैं; इसके सिवा, अक्ष, लट्टू के ऐसा झूमना भी है, (अंग्रेजी में इसे 'प्रिसेशन' कहते हैं)[1]। जब-जब अक्ष के स्थान में, विशेष और सद्यः परिवर्तन होता है, तब-तब पृथ्वीतल पर विशेष उत्पात अधःपात होते हैं। ऐसा अनुमान किया जा सकता है, कि एक समय में ऐसा ही परिवर्तन हुआ; अगस्त्य का तारा जो पहिले उत्तर में देख पड़ता था, दक्षिण में आ गया, उसी समय विंध्य पर्वत लोट गया, और पृथ्वीतल की शकल ही बदल गई। अजब नहीं कि पश्चिम के भू-शास्त्रियों के 'गोंडवाना लैंड' की कथा इस पौराणिक विंध्य पर्वत की कथा से सम्बन्ध रखती हो। 'जीयालोजी', भू-शास्त्र, में कहे 'आइस एज', 'ग्लेशल एज' हिम-युग', आदि में, उष्ण कटिबंध, 'टारिड जोन', के स्थान में 'शीतकटिबंध', 'आर्क्टिक जोन'[2], के परिवर्त्तन में, और इसके विपरीत परिवर्त्तन में भी, अक्ष का स्थान-परिवर्त्तन ही कारण होता है।

महाभारत के कर्ण पर्व में दो श्लोक आये हैं, जिनका अक्षरार्थ ठीक नहीं बैठता। कर्ण का एक अति घोर घातक बाण, अर्जुन की ओर आते देख कर, रथ के पहिये को सारथिभूत कृष्ण ने, इस जोर से, पैर के आघात से, दबाया, कि वह 'पाँच अंगुल' जमीन में धँस गया।

रथस्य चक्रं सहसा निपीड्य, पंचांगुलं मज्जयति स्म वीरः।

इसका फल यह हुआ, कि तीर अर्जुन के गले में न लग कर, मुकुट में लगा, और मुकुट गिर गया। श्री कृष्ण ने पहिये को फिर निकाल लिया; इसके बाद, पृथ्वी ने कर्ण के रथ के पहिये को ग्रस लिया; कर्ण ने रथ से उतर कर, पहिया पकड़ कर, इस जोर से उभारा, कि सातों द्वीपों सहित, शैल-वन-कानन समेत 'चार अंगुल' पृथ्वी उठ गई, पर पहिया न छूटा।

सप्तद्वीपा वसुमती सशैलवनकानना।
गीर्णचक्रा समुत्क्षिप्ता कर्णेन चतुरंगुलम्॥

स्पष्ट ही यह कथानक असम्भाव्य, किमुत प्रहसन, है; यथा, पश्चिम की, "बैरन मंचासेन के पराक्रम" नाम की, बालकों को हँसाने की एक कहानी में लिखा है, कि एक समय यह वीर पुरुष घोड़े पर चलता हुआ सो गया; जब घोड़े की गति बंद होगई तो चौंक कर जागा; देखा कि दलदल में घोड़े के चारो पैर पेट तक धस गये हैं; दोनों घुटनों से उसने घोड़े को जोर से दाबा; गूँथी हुई अपनी मोटी चोटी ('पिग-टेल')[3]

---

[1] Precession.

[2] Gondwana land; geology; ice age; glacial age; torrid zone; arctic zone.

[3] Pig-tail.

को दाहिने हाथ में मजबूत पकड़ कर, भारी झटका ऊपर की तरफ दिया; घोड़ा और सवार, दोनों, दलदल से बाहर, मिस्ल 'फुट-बाल' के जा गिरे, और चल दिये ! खुद पृथ्वी पर खड़ा कर्ण, सारी पृथ्वी को चार अंगुल उठा लेता है ! 'मंचामैन' की क्या ताब जो उसके आगे मुखड़ा दिखा सके ! इस रूपक का अर्थ यों ही बैठता है, कि कर्ण और अर्जुन के युद्ध के समय, या तो अच्च 'चार-पाँच अंगुल हिला', या और किसी कारण से (—भूकम्प के कई भिन्न-भिन्न कारण, वराह-मिहिर आदि ने भी, और पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने भी, बताये हैं—) भूकम्प हुआ, भूमितल में दरारें पड़ीं, और बंद हो गईं; जैसा भूकम्पों में अक्सर देखा जाता है, और बिहार के भूकम्प में देखा गया; अर्जुन का पहिया तो निकल आया, और कर्ण का पहिया इस ओर से दरार के बंद होने के समय उसमें पकड़ गया कि न निकल सका; और एक दूसरे के खून के प्यासे, दोनों शूर बीर, ऐसे भूकम्प से भी कम्पित न हो कर, लड़ते ही रहे, जब तक कर्ण मारा नहीं गया।

(६) अगस्त्य के प्रताप से समुद्र के सूख जाने और फिर भर जाने का भी व्याख्यान ऐसा ही जान पड़ता है। समुद्र के जल के क्षार होने के कारण के विषय में, पाश्चात्यों का मत है कि आदि से ही ऐसा है। पर उनका यह भी कहना है, कि समुद्र के जल में जो क्षार है, वह ज्वालामुखी पर्वतों से निकले हुए 'क्लोराइड्ज और सल्फेट्स'[1] से बहुत मिलता है। इससे अनुमान हो सकता है कि पौराणिक ऋषियों की दृष्टि में, अगस्त्य के स्थान के परिवर्तन से सूचित, पृथ्वी के विशेष व्याकुल अंगविक्षेप अर्थात् विप्लव से स्फुरित, ज्वालामुखी पर्वतों में से, जो समुद्र के भीतर भी हैं, निकले हुए क्षारों से, समुद्र का जल क्षार हुआ हो; और इसी को उन्हों ने अगस्त्य के मूत्र द्वारा जल के विमर्जन के रूपक से कहा हो।

(७) अश्विनीकुमार की उत्पत्ति के रूपक की व्याख्या करने का यत्न, अन्यत्र, अंग्रेजी भाषा में किया है[2]। यहां हिन्दी शब्दों में उसका संक्षेप लिखता हूँ।

'संज्ञा' का अर्थ चेतना, 'होश', है। वह सूर्य की, प्रकाशमय सर्व-सविता परमात्मा की, 'पत्नी', सहधर्मिणी, किं वा नामांतर मात्र, है ही। क्रमशः, पृथ्वी पर, जीवत् शरीरों में, 'प्राणियों' में, (प्र-अनिति इति प्राणी, जो साँस ले), उस संज्ञा का आविष्कार हुआ। संज्ञा का रूप 'अश्विनी' का हुआ। 'अश्नति विषयान् इति अश्वाः,' वा 'आशु वहन्ति विषयान् प्रति जीवं,

---

[1] Chlorides, sulphates.

[2] *The Sciince of Social Organisation or The Laws of Manu* Vol. 2, pp. 598-602.

तथा जीवं प्रति च विषयान्, इति अश्वाः, इंद्रियाणि'; 'इंद्रियाणि हयान् आहुः', (उपनिषत्) ; 'अश्वाः तिष्ठंति यस्मिन् स अश्वत्थः ।'

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् । (गीता)

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः । (कठ उपनिषत्)

"ज्ञान और कर्म का इन्द्रियां को ही 'अश्व' कहते हैं। वे 'विषयों' को 'अश्नंति', चखती हैं; वा विषयों को जीव के पास और जीव को विषयों के पास ले जाती हैं। यह इन्द्रियां जिसमें स्थित हों, उसी का नाम 'अश्विनी' भी, और 'अश्वत्थ' भी। इस 'अश्वत्थ' (वट) के पेड़ का विशेष यह है कि, इसका मूल (मस्तिष्क, माथा) ऊपर होता है, और शाखा प्रशाखा (नाड़ियां) नीचे फैलती हैं। मानवशरीर का नाड़ी-सम्प्रदाय ('नर्वस् सिस्टेम')[1] ही यह 'अश्वत्थ' है। अश्वत्थ से उपमा इस लिये दी, कि वट-वृक्ष में भी 'बरोह' ऊपर से नीचे लटकती है। (अश्वत्थ का अर्थ पीपल भी किया जाता है; पर उससे उपमा ठीक नहीं बैठती, क्योंकि पीपल के पेड़ में 'बरोह' प्रायः नहीं देख पड़ती); इस अश्विनी की नासा से युग्म, जोड़ुआं, दो कुमार, एक साथ पैदा हुए। इनका नाम 'नासत्य' और 'दस्र' पड़ा। दक्षिण और वाम नासिका के श्वास-प्रश्वास ही यह 'अश्विनी-कुमार' हैं। 'अश्विनी' की 'नासा' से उत्पन्न हुए, इस लिए नाम भी 'नासत्यौ' पड़ा। 'दस्रौ' भी। अलग-अलग, एक का नाम 'नासत्य', दहिनी नासा के श्वास प्रश्वास का; दूसरे का नाम 'दस्र', बाईं नासा के श्वास-प्रश्वास का। 'दस्र' का अर्थ शीत भी है। 'ह-ठ-योग' की शिक्षा है कि, दक्षिण नासा, 'सूर्य्य-नाड़ी', 'ठ', के श्वास-प्रश्वास से, शरीर में गर्मी, उष्णता, बढ़ती है; वाम नासा, चन्द्रनाड़ी, 'ह', के श्वास-प्रश्वास से, ठंड, शीतता, बढ़ती है। विविध प्रकारों से प्राण-अपान का आयमन, आयाम, प्राणायाम ही मुख्य 'ह-ठ-योग' है।

प्राणायामः परं बलम् ।

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् ।

प्राणायामः परं तपः । (मनु)

प्राणायाम ही 'दैव-वैद्य' है, दिव्य-औषध है, इसकी विद्या ठीक-ठीक जिसको विदित हो, और इसका अभ्यास उस विद्या के अनुसार जो करै, उसको कोई रोग नहीं सता सकता। इत्यादि।

अश्विनीकुमार के जन्म की कथा के साथ, और भी कितनी ही सूक्ष्म-सूक्ष्म बातैं कही हैं, जिनका अर्थ लगाना अति कठिन हो रहा है। यथा, सूर्य को, 'मुख्य-संज्ञा' से दो पुत्र, वैवस्वत मनु, यम, और एक कन्या, 'यमुना'।

---

[1] Nervous system.

'छाया-संज्ञा' से दो पुत्र, भावी आठवें मनु सावर्णि, शनैश्चर (ग्रह), और एक कन्या 'तपती'। वैवस्वत तो, वर्तमान मन्वंतर के अधिकारी प्रजापति हुए; यमुना, नदी के रूप में पृथ्वी पर उतरी; यम, प्रेतलोक के दंडधर नियत हुए; सावर्णि, आगामी मन्वंतर के अधिकारी प्रजापति होंगे; शनैश्चर, ग्रहों में रख दिये गये; तपती का विवाह, सूर्यवंशी इक्ष्वाकुवंशी महाराज संवरण के साथ हुआ। यम को 'छाया-संज्ञा' का शाप हुआ था; सूर्य ने, छाया-संज्ञा के वचन की मर्यादा रखने के लिये, इतना अंश उसका बचा रक्खा, कि प्रति वर्ष, एक महीना, यम के पैर को कीड़े खायँगे, और फिर वह पैर अच्छा हो जाया करेगा। इन सब कथाओं में, मानव-इतिहास (ऐन्थ्रोपालोजी), प्राणिविद्या (बायालोजी), भू-शास्त्र (जियालोजी), तथा ज्योतिःशास्त्र (ऐस्ट्रानोमी), के भी रहस्य भरे हैं—ऐसा अनुमान किया जा सकता है।[1] यथा, किसी युग, 'जियोलाजिकल एज', [2] में, नासिका और श्वास से युक्त प्राणियों की उत्पत्ति पृथ्वी पर प्रथम-प्रथम हुई; नाड़ी-व्यूह का आविर्भाव शरीरों में स्यात् तभी विशेष विस्पष्ट रूप से हुआ; सूक्ष्म कीटवत् जल-जन्तुओं में, जो श्वास-प्रश्वास नहीं लेते, नाड़ीव्यूह नहीं देख पड़ता; तथा अन्य उनसे कुछ थोड़ी उत्कृष्ट योनियों में भी, जिनमें पंच इन्द्रियां व्यक्त नहीं हैं, कम ही है। जैसे शनैश्चर स्पष्ट ही एक ग्रह है, वैसे 'यम' भी स्यात् वह ग्रह हो सकता है, जिसको पाश्चात्य विद्वान् 'वल्कन' कहते हैं, या वह जिसका नाम उन्होंने 'प्लूटो' रक्खा है। ग्रीस देश के 'पुराण' ('मैथालोजी') में 'वल्कन' एक देव का नाम है, और वह भी लँगड़े कहे हैं; परन्तु उनका कर्म वह कहा है, जो वैदिक पुराणों में 'त्वष्टा विश्वकर्मा' का बताया है, अर्थात् सब प्रकार की कारीगरी; और प्लूटो नामक देव को प्रेत-जीवों का राजा कहा है, और उनका स्थान पृथ्वी के भीतर महाविवर में बताया है। अब पाश्चात्य ज्योतिषियों ने, सन् १९३० में, एक नये ग्रह का पता लगाया है जिसका नाम उन्होंने, ग्रीक पुराण से लेकर, 'प्लूटो' रक्खा है। यह ग्रह बहुत छोटा है, और उसकी चाल में कुछ विचित्रता भी है, जिससे उसको 'लँगड़ा' कहना सार्थ होता है। इत्यादि।[3]

(८) अहल्या के उपाख्यान का अर्थ लगाने का यत्न, 'पुरुषार्थ' नाम के ग्रन्थ के 'कामाध्यात्म' अध्याय में, मैं ने किया है[4]। इसकी कृषि-शास्त्रीय

---

[1] Anthropology; biology; geology; astronomy. [2] Geological age. [3] Vulcan; Pluto; mythology.

[4] यह ग्रन्थ आधा छप गया है। आशा है कि थोड़े ही महीनों में पूरा छप कर प्रकाशित हो सके।

('ऐग्रिकल्चरल्')[1] व्याख्या यह हो सकती है कि, 'शतानन्द' नामक पति, जो, यदि अपनी 'हल-योग्या' 'हल्या' भूमि की उचित रीति से कृषि करते, तो 'सैकड़ों आनन्द' उससे प्राप्त करते, उसको 'हल-रहिता' 'अहल्या' 'अकृष्टा' छोड़ कर चले गये; 'इंद्र' और 'चंद्र' ने, जो विद्युत्, जल, वर्षा के देव हैं, इस भूमि को भ्रष्ट कर दिया; वह अनुपजाऊ, पाषाणवत्, हो गई; जब रामचन्द्र ने उसको घूम फिर कर, पाद-चारण, 'पाद-स्पर्श', करके, देखा, और उसका उचित प्रबन्ध किया, तब वह फिर चेतन हो उठी। आयुर्वेदीय ('मेडिकल') शिक्षा इस आख्यान से यह मिलती है, कि व्यभिचार दोष से 'इंद्र' को, राजा को, सहस्र व्रण वाला, उपदंश, ('सिफिलिस') नामक, भयंकर रोग हो गया, तथा चन्द्रमा को राजयक्ष्मा, क्षय ('थाइसिस');[2] ऋषि की आराधना करने से, उचित चिकित्सा करने से, रोग अच्छे हुए; पर चिह्न और शेष कुछ न कुछ रही गये।

नैतादृशमनायुष्यं यथैतत्पारदारिकम्। मनु)

"परदार-गमन के ऐसा आयुर्नाशक कोई दूसरा दुराचार नहीं"; इससे जो आधि-व्याधि उत्पन्न होते हैं, वह पुश्त दर पुश्त भयङ्कर रूप दिखाते हैं, तरह-तरह के उन्माद, तरह-तरह के कुष्ठ आदि चर्म रोग भी। मनु ने कहा है कि पाप अपना फल दिये बिना नहीं रहता।

न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः।
यदि नाऽत्मनि पुत्रेषु, न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु ॥

"यदि स्वयं पाप करने वाले पर नहीं, तो उसके लड़कों पर; नहीं तो नाती-पोतों पर"; व्यभिचार से उत्पन्न रोगों का ऐसा पुश्त दर पुश्त संचार प्रत्यक्ष ही देख पड़ता है। 'बाइबल' में भी यही बात कही है, कि पितरों के पाप का दंड, तीसरी चौथी पुश्त तक, उनको संतान को भोगना पड़ेगा। उनके पुण्य का फल, उत्तम शरीर, उत्तम बुद्धि, धन-संपत्ति आदि के रूप में, भोगते हैं, तो पाप का फल क्यों नहीं? अंततो गत्वा, प्रत्येक व्यक्ति के सुख-दुःख का कारण, अपना ही पूर्व-कर्म होता है। जिसी से अच्छे या बुरे कुल में जन्म होता है, और अच्छा या बुरा शरीर, बुद्धि, आदि मिलती है।

अध्यात्म-शास्त्र के उन अंगों की दृष्टि से, जिसको अब 'साइकिएट्री'[3] और 'सैको-ऐनालिसिस' कहते हैं, अर्थात् 'आधि-चिकित्सा', मनोरोग-चिकित्सा, इस कथा का यह अर्थ हो सकता है कि, महासाध्वस ('शॉक') से, अहल्या को, 'टेटनस' वा 'सिनकोपी' के प्रकार की, निःसंज्ञता, स्तब्धता, की बीमारी हो

---

[1] Agricultural.

[2] Medical, syphilis ; phthisis.

[3] Psychiatry ; psycho-analysis ; shock ; tetanus; syncope.

गई, जो रामचन्द्र के पदस्पर्श से, कोमल-सुख-स्पर्श से, 'मैग्नेटिक टच्' से, अच्छी हुई।'[1] इत्यादि।

(९) समुद्र-मंथन की कथा तो प्रायः स्पष्ट ही है। आकाश-समुद्र में, द्वंद्वात्मक विरुद्ध शक्तियां, 'देव-दैत्य', 'मंदर' पर्वत ('मैटर', महाभूत-समूह) के द्वारा, मथन कर रही हैं; 'चक्रवत्' वह 'मंदर' 'भ्रमता' है, घूमता है, एक बेर एक ओर फिर उसके विरुद्ध दूसरी ओर; 'ऐक्शन' और 'रि-ऐक्शन', क्रिया-प्रतिक्रिया, के न्याय से। सर्प ही वेष्टनी, नेत्री, रस्सी है, अर्थात् संसार में सब वस्तुओं की गति सर्प-मंडलाकार, कुंडलाकार, 'कुंडलिनी' ('स्पाइरल' और साइक्लिकल') होती है; ऐसे विरोधी घर्षण से, 'संघर्ष' से, प्रतिस्पर्धा से, सब प्रकार के अनुभव उत्पन्न होते हैं; चौदह रत्नों' का नाम विशेष करके बता दिया; एक-एक में रहस्यार्थ भरा होगा।[2]

(१०) प्रियव्रत के रथ के सात बेर घूमने से सात द्वीप, सात समुद्र, बन जाने का अर्थ, माडम ब्लैवैट्स्की के महाग्रन्थ 'दी सीक्रेट डाक्ट्रिन्'[3] का आश्रय लिये बिना समझ में नहीं आता। जैसे उपनिषदों और पुराणों में 'त्रिक' की, ('सर्वमेतत् त्रिवृत् त्रिवृत्'), तथा 'पंच' की, (पंच ज्ञानेंद्रिय, पंच कर्मेंद्रिय, पंच महाभूत, पंच अंगुली, पंच प्राणों में 'पंच स्रोताम्बु', 'पंचपर्वा' अविद्या आदि, दर्शन ग्रन्थों में, उपनिषदों में, कही हैं), वैसे 'सप्त' की भी महिमा है, (सप्तऋषयः, सप्तप्राणाः, सप्तार्चिषः, सप्तजिह्वाः, सप्तहोमाः, सप्तलोकाः, सप्तद्वीपाः, सप्तसमुद्राः, प्रभृति)। एक परिपाटी, इस विषय के विचार की, यह है, कि मानव-जीवों का समूह, प्रत्येक महामन्वंतर में (मन्वंतर शब्द का अर्थ, दो मनुओं के बीच का, अन्तर का, काल—ऐसा कुछ विद्वान् करते हैं) सात बेर, सात महाजातियों में ('रेसेज़' में) जन्म लेता है। एक-एक महाजाति, एक-एक नये द्वीप में, अधिकतर, अपने निर्दिष्ट युग, अर्थात् काल-परिमाण ('साइक्ल', 'पीरियड')[4] को भोगती है। प्रत्येक महाजाति में अवान्तर सात-सात जातियां होती हैं। रामायण की कथा में, जाम्बवान् ने कहा है कि, "जब मैं जवान था, तब वामनावतार के समय में, जब से वामन ने तीन क्रम, 'क़दम', बढ़ाये, तब से मैंने इक्कोस बार पृथ्वी की परिक्रमा कर ली; पर अब तो बूढ़ा हो गया, समुद्र पार न कर सकूँगा; इस लिये हनुमान् को ही समुद्र को तैर कर पार करना चाहिये"। इक्कीस बार

---

[1] Magnetic touch.

[2] Matter; action-reaction; spiral; cyclical.

[3] Madam H. P. Blavatsky, *The Secret Doctrine.*

[4] Races; cycle; period.

परिक्रमा का भी अर्थ कुछ ऐसा ही होगा, कि एक विशेष जीव-समूह ने, ऋक्ष जाति की सूत्रात्मा ने, उतने काल में इक्कीस बार जन्म लिया, इत्यादि। प्रियव्रत के रथ की परिक्रमा का अर्थ कुछ ऐसा ही अनुमान से जान पड़ता है। पाश्चात्य भू-शास्त्री भी कहते हैं कि, पृथ्वी के महाद्वीप, समुद्र में डूबते-उतराते रहते हैं; और पृथ्वी का स्थल-जल-सन्निवेश बदलता रहता है। ऊपर 'गांडवाना-लैंड' की चर्चा की गई। पाश्चात्य वैज्ञानिक, इसका दूसरा नाम 'लम्युरिया' बतलाते हैं। भारतवर्ष और अफ्रीका का मध्य-भाग इसमें शामिल था; 'इन्डियन ओशन' स्थलमय था। उसके टूट कर डूबने पर, नया सन्निवेश बना। तथा, सबसे पुराना समुद्र 'पैसिफिक' है, उसके बाद 'इन्डियन ओशन', उसके बाद 'एटलांटिक ओशन' बना। इत्यादि।[1]

(११) निरुक्त में कहा है, 'पश्यकः, सूर्यः, कश्यपो भवति'। सूर्य ही का नाम कश्यप है। सूर्य की विशेष शक्ति वा विभूति, पृथ्वी का अधिकारी देव बन कर, कश्यप 'ऋषि' कहलाई। 'अदिति', पृथ्वी का ही नाम है। 'दिति' आदि भी पृथ्वी के रूप हैं, अंश, 'आसपेक्ट' 'पहलू' हैं। इस प्रकार के तेरह 'अंशों' से, तेरह प्रकार के, तेरह मूल 'जाति', 'आर्डर्स', के, जीव उत्पन्न हुए। 'आदित्य', 'दैत्य', 'दानव', 'मानव', पशु, पक्षी, सर्प, जल-जन्तु आदि। यह सब 'बायालोजी,' 'जूआलोजी', शास्त्रों के तथ्यों के रूपक हैं।[2]

विनता को प्रायः गरुड और अरुण की माता कहा है। अरुण, सूर्य के सारथी हैं; प्रातःकाल की रक्तिमा का नाम है। गरुड़, विष्णु के वाहन हैं; 'छंदोमयेन गरुडेन समुह्यमानः', ऐसा विष्णु का वर्णन किया है; वायु पुराण में कहा है कि 'विनता' छन्दों की माता है। कद्रू का अर्थ 'कुत्सित' भी है; 'सोम रस रखने का भूरे रंग का पात्र' भी है; 'सर्पों की माता' भी है। गरुड़ पक्षी सर्पों को खा जाता है। महाकाल के प्रवाह की सूचना, गरुड के महावेग और महाबल और परमात्म-स्वरूप विष्णु के वाहनत्व से होती है; वैदिक छन्द विष्णु की स्तुति करते हैं; उनके सुप्रयोग से 'वैष्णवी' शक्ति का आवाहन हो सकता है, और मनुष्य को सहायता मिल सकती है। सर्प छोटे-छोटे 'मंडलाकार' 'कुंडलित' 'साइक्ल'[3] युग हैं; उनको महाकाल खा जाता हैं। कद्रू की इच्छा होती है कि 'सर्प' अमृत पीकर अमर हो जायँ; नासमझ जीव चाहता है, कि हमारा जन्ममरणधर्मा स्थूल शरीर ही

---

[1] Gondwana land ; Lemuria ; Indian Ocean ; Pacific Ocean ; Atlantic Ocean.

[2] Aspect ; orders ; biology ; zoology.

[3] Cycle.

अमर हो जाय; विनता को ठगने का यत्न करती है। 'सहस्रार' चक्र में, ब्रह्मरंध्र में, 'अमृत' का घड़ा रक्खा है; जो जीव, योगसाधन से ब्रह्मरंध्र तक पहुँचता है, आत्मा का स्वरूप, अपना स्वरूप, पहिचान लेता है, वह अमर हो जाता है; 'अमर हो जाता है' का अर्थ है, अपनी, आत्मा की, अमरता को पहिचान लेता है; 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्म भवति'; कोई नई अमरता उस को नहीं मिलती; कैसे मिल सकती है? भूली हुई, अपने भीतर भरी हुई, अमरता को याद कर लेना ही तो अमर हो जाना है। गरुड़ सच्चे योगी, तो योग-बल से, 'छंदोमय' मंत्र का जप, ध्यान, मनन करने से, दो पक्ष और एक चंचु के, इड़ा, पिंगला, और सुषुम्ना के बल से, 'सहस्रार' तक पहुँच कर, उस घड़े को लाते हैं; पर वाम-मार्गी, अहंकारी, राग द्वेष के दुष्ट भावों से भरे, सर्प, उसको नहीं पा सकते; अपनी जिह्वा को दुभासिया, झूठी, बना लेते हैं। वे अमृत नहीं पी सकते, सोम ही पी सकते हैं, जिससे नशा होता है 'इन्द्रोऽमाद्यत सोमेन'; मालूम होता है कि भाँग की-सी कोई नशीली औषधि रही; उसको बहुत से लोग मिल कर, राजस-तामस प्रत्यक्ष पशु-यज्ञ में, पीते थे। और मांसादि खूब खाते थे; जैसे आजकाल भी 'सेरीमोनियल डिनर्स'[1] में। 'सात्त्विक यज्ञ' दूसरी ही वस्तु थी; काम-क्रोध-मोह-भय-अहंकार का बलिदान उसमें किया जाता था; अपने भीतर के पशुओं का; बाहरी का नहीं। सोम ओषधि के कई प्रकार होते हैं, ऐसा भी पुराने ग्रंथों से जान पड़ता है; एक प्रकार का प्रयोग, कायकल्प के लिये, शरीर के नवीकरण के लिये, किया जाता था; 'अमेरिकन इन्डियन' लोग 'मेस्कल' नाम की एक ओषधि जानते हैं, जिसके खाने से कुछ देर के लिये सूक्ष्म इंद्रिय, दिव्य चक्षु, दिव्य श्रोत्र ('क्लेयरवायस' आदि) खुल जाते है।[2]

(१२) मनुष्य-शरीर क्षुद्र-विराट् है; ब्रह्मांड में, महाविराट् में, जो पदार्थ हैं, वह सब इसमें भी हैं। इसके बीच में 'मेरुदंड', 'पृष्ठवंश', है। उसमें तेंतीस गुरिया ('वर्टिब्री') हैं। बारह 'आदित्य', ग्यारह 'रुद्र', आठ 'वसु', दो 'इन्द्र-प्रजापति' वा 'अश्विनी-कुमार'। पच्छिम के शारीर-शास्त्री ('एनाटोमी-फिसियालोजी' के वैज्ञानिक) कहते हैं कि, गले में सात ('सर्विकल'),पीठ में बारह ('डार्सल' वा 'थोरासिक'), उनके नीचे कटि में पाँच ('लम्बर'), उनके नीचे कमर में पाँच ('सैक्रल'), उनके नीचे पृष्ठ-मूल में चार (कॉक्सिजियल'); तेंतीस की गिनती दोनों प्रकार में मिलती है;[3] विभाजन,

---

[1] Ceremonial dinners.

[2] American Indian ; mescal ; clairvoyance.

[3] Vertebrae ; anatomy, physiology ; cervical ; dorsal or thoracic ; lumbar ; sacral ; coccygeal.

वर्गी-करण, में भेद है। मस्तिष्क के कंदों से, और इन गुरियों से निकलने वाली और उनमें पैठने वाली नाड़ियों से, ज्ञान और कर्म की इंद्रियों का सम्बन्ध है; तत्तत् इंद्रिय, और तत्तद्विषयभूत पंच-महाभूतों के अभिमानी, चैतन्यांश, 'देव' कहलाते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेंद्रिय, एक मनस्, इन ग्यारह इंद्रियों के 'अभिमानी', 'अहकारवान', देवता, ग्यारह 'रुद्र' कहलाते हैं।

पर्वभिर्निर्मितो यस्मात् तस्मान्मेरुस्तु पर्वतः।
तत्र संचारिणी देवी शक्तिराद्या तु पार्वती॥
तस्य मूर्ध्नि स्थितो देवो ब्रह्मरन्ध्रे महेश्वरः।
अनन्तानां च केलीनां तयोः कैलास आसनम्॥
मानस्य एव ताः सर्वाः, सरस्तस्माच्च मानसं।
दीव्यन्ति, यत्त क्रीडंति विषयैरिंद्रियैरपि,
तस्माद्देवा इति प्रोक्तास्तास्ताः प्रकृतिशक्तयः॥
महेश्वरस्यात्मनस्तु सर्वे ते वशवर्त्तिनः।
'इदमं' द्रावयत्यस्मादात्मेदंद्रस्तु कथ्यते।
'इदंद्रं' संतमात्मानं 'इन्द्रं' आचक्षते बुधाः।
देवानामीश्वरश्चेंद्र इति पौराणिकी प्रथा॥

इस प्रकार से संग्रह श्लोक कहे जा सकते हैं।

शिव के सिर से आकाश-गंगा बहती है; वही सुषुम्ना है; 'सु-सु म्ना', 'अति उत्तम मनन', 'महा-आनन्द'। उमकी 'धारा' को उलटी बहावै, प्राण-शक्ति 'रा-धा' की उचित उपासना करै, 'ऊर्ध्व-रेतस्', 'ब्रह्मनाल' से (जो स्थूल काशी नगरी की एक गली का नाम है) 'मणि-कर्णिका' घाट को जाय, तो 'ब्रह्म-लाभ' हो, 'तारक' मंत्र मिलै, तर जाय, मुक्त हो जाय। मेरु के ('स्पाइनल कार्ड' के) बीच की नाली ही, प्रायः 'सुषुम्ना' शब्द से संकेतित होती है। उसके दहिने तरफ 'पिंगला', और बाईं ओर 'इड़ा', कही जाती है; ये प्रायः दोनों 'सिम्पाथिक नर्व्ज हैं'[1]। कुंडलिनी का, जो शक्ति की एक रूपान्तर ही है, इन नाड़ियों से सम्बन्ध है। योग-वासिष्ठ के निर्वाण-प्रकरण के पूर्वार्ध के अन्तिम अध्यायों में, तथा अन्य ग्रन्थों में, भिन्न प्रकारों से, इसका संकेत मात्र वर्णन किया है। इत्यादि।

यह सब 'क्रिया', विविध 'योग-मार्गों' के प्रक्रियात्मक अभ्यास का विषय है; बिना उच्च-कोटि के अनुभवी, यम-नियमादि में निष्णात, सद्गुरु के, तथा बिना वैसे ही सच्चे हृदय से युयुत्सु, मुमुत्सु, शुद्ध पवित्र चरित्र युक्त

---

[1] Spinal cord ; sympathic nerves.

शिष्य के, इन गूढ़ रहस्य विषयों का पता चलना, कठिन है; और योग की भूमियों को, उस रहस्यज्ञान की सहायता से, क्रमशः पार करने वाला अभ्यास करना तो अति कठिन है।

> अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहाः यमाः।
> शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानि नियमाः। (योग-सूत्र)
> अभ्यासेन तु, कौंतेय, वैराग्येण च गृह्यते। (गीता)
> तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन् मुंजांदिषीकामिव धैर्येण।
> इह चेद् अशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः,
> ततः सर्वेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते।
> लब्ध्वा विद्यां योगविधिं च कृत्स्नं,
> ब्रह्म प्राप्तो विरजोऽभूद् विमृत्युः। (कठ०)

यह सब गीता और उपनिषदों के वाक्य हैं। आशय यह है कि, वेदांत के निश्चित ज्ञान से 'चित्त-विमुक्ति' हो जाती है; पर उसके पीछे भी, 'योग-विधि' से, सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर से बाहर निकाल सकने से, 'शारीर मुक्ति' होती है, तथा 'चित्त-विमुक्ति' अधिक दृढ़ होती है। मुहम्मद ने भी, क़ुरान में कहा है, 'मुतो क़ब्लुन तमूतो', यानी मौत से क़ब्ल मौत को जानो; मरने से पहिले मरो; जीते जी 'जिस्मि-कसीफ़' से 'जिस्मि-लतीफ़' को अलग करने की शान को हासिल करो। मुल्ला जामी ने कहा है—

> यक बार बिमीरद हर कसे, बेचारः जामी बारहा।

यानी "और लोग तो एक ही बार मरते हैं, बेचारा जामी बार-बार मरता है;" यानी स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर को निकाल कर, उसके द्वारा दूसरे लोकों की, आलमों को, सैर करता है।

कुछ अन्य रूपक

ऐसे ही रूपक, पद पद पर, पुराणों में भरे हैं। यथा जब इंद्र की सौतेली माता दिति (पृथ्वी) गर्भवती थी, और इंद्र का भयंकर शत्रु उससे उत्पन्न होने वाला था, तब इंद्र (विद्युत्) ने, उसमें योगबल से प्रवेश करके, वज्र से उसके सात टुकड़े किये, और जब वे सात रोने लगे, तो 'मत रो', 'मत रो', कह कर, एक एक के सात सात टुकड़े किये; इससे उनका नाम उनचास 'मरुत्' (वायु) हुआ, और वह गर्भ से निकल आये; फिर इंद्र ने दिति से अपना अपराध क्षमा कराया, और दिति ने इंद्र और मरुतों में सदा के लिये मित्रता करा दी। अवश्य ही इस बुद्धिपूर्वक गढ़े हुए रूपक का कुछ विशेष अर्थ होगा। स्यात् वैसा ही कुछ हो, जैसा पच्छिम के वैज्ञानिक लोग अब कहते हैं, कि बहुत किस्म की 'गेस'[1] होती है। और 'सात' संख्या का भी,

---

[1] Gas.

इनके क्रमिक विकास ('ईवोल्यूशन') में, सम्भवतः कुछ वैसा संबंध हो सकता है, जैसा पाश्चात्य रूसी वैज्ञानिक मेंडेलेयेफ के पाये और बतलाये 'पीरियाडिक ला' में दिखाया है; अर्थात् आदिम परमाणुओं से इतनी इतनी 'संख्या' पर, ऐसे ऐसे 'केमिकल एलिमेंट्स' बनते हैं; 'सांख्य' दर्शन में पंच-भूतों की क्रमिक उत्पत्ति, वेदांत का 'पंचीकरण', आदि भी, इन भावों से मिलते हैं। ऐसे ही मत्स्य पुराण में, अग्नि की पत्नियां, उनके बेटे, पतोहुएं और पोते, सब मिलकर उनचास अग्नि कहे हैं। निश्चयेन यह भी निरी कहानी नहीं हो सकती। पच्छिम के वैज्ञानिकों ने तरह तरह की 'रे' निकालना शुरू किया है।[1] पर क्या ठीक अर्थ है, यह कहना अब कठिन हो गया है। भारत के शील के साथ साथ, ज्ञान का भी सर्वथा ह्रास हो गया है।

कुछ सीधे ऐतिहासिक रूपकों की भी चर्चा कर देना उचित होगा। इनका अर्थ सरल और प्रायः निस्सन्देह है।

बहुत पूर्वकाल में, परम यशस्वी ध्रुव के वंश में, अंग का पुत्र वेन हुआ। बड़ा दुष्ट निकला। बाल्य काल में ही, अन्य बालकों की हत्या तक उसने आरम्भ किया। अंग राजा, नितांत निर्विण्ण होकर, रातों रात जंगलों में जाकर लापता हो गये। मंत्रियों ने ऋषियों से निवेदन किया। अराजकता में महादोष; वेन के अभिषेक की आज्ञा दी। राज-सिंहासन पर बैठ कर, वेन और भी मदमत्त हो गया; प्रजा को अति कष्ट देने लगा; सारी समाज-व्यवस्था को बिगाड़ डाला; धर्म-कर्म, जीविकावृत्ति, को संकर कर दिया; भेरी के घोष से, यह आज्ञा देश में घुमाई, कि ईश्वर की, देवों की, पूजा कोई न करै, सब मेरी ही पूजा करैं, क्योंकि,

एते चान्ये च विबुधाः, प्रभवो वरशापयोः,
देहे भवंति नृपतेः; सर्वदेवमयो नृपः।

"सब देवता, राजा के शरीर में ही हैं; वही वर और शाप का देने वाला है"। ऋषियों ने आपस में सलाह की,

अहो उभयतः प्राप्तं लोकस्य व्यसनं महत्;
दारुण्युभयतो दीप्ते इव, तस्करपालयोः।
अराजकभयादेष कृतो राजाऽतदर्हणः;
ततोऽप्यासीद् भयं त्वद्य; कथं स्यात्स्वस्ति देहिनाम्।
ब्राह्मणः समदृक् शान्तो दीनानां समुपेक्षकः,
स्रवते ब्रह्म तस्यापि, भिन्नभांडात्पयो यथा।

"काठ के टुकड़े में दोनों ओर से आग लगा दी जाय, वह दशा प्रजा की हो गई; अराजकता में चोर डाकुओं के भय से इसको राजा बनाया; यह

[1] Evolution; Periodic Law; Chemical Elements; Rays.

उनसे भी अधिक दुष्ट निकला; प्रजा का कैसे भला हो ? समदर्शी, ब्रह्मज्ञानी, शान्त, दान्त, त्यागी, तपस्वी, ब्राह्मण, यदि दीन प्रजा को दुर्दशा देखता हुआ उपेक्षा करै, तो उसका ब्रह्मज्ञान नष्ट हो जाता है जैसे फूटे बर्तन में से दूध।"

ऋषियों ने राजा वेन को समझाने का यत्न किया; एक न सुना; तब उन्होंने उसको 'हुंकार' से मार डाला। वेनकी 'बाईं जांघ को मथा'; उसमें से अति कुरूप बुद्धिहीन पुरुष उत्पन्न हुआ; उसको ऋषियों ने, "निषीद" 'अलग बैठ जाओ', ऐसा कहा; उससे 'निषाद' जाति उत्पन्न हुई। वेन की दक्षिण और वाम भुजाओं को ऋषियों ने मथा; दाहिनी से पृथु निकले; और बाईं से अर्चिः नाम की कन्या; दोनों का विवाह कर के, पृथु को राजपद पर अभिषेक किया।

अर्थात्, वेन की संतान में ऋषियों ने खोज की; उसके दुराचार व्यभिचार से उत्पन्न, कुरूप कुबुद्धि जन्तुओं को, 'निषादों' को, अलग कर दिया; सद्विवाह धर्म-विवाह से उत्पन्न, सदाचारी पृथु को राजा बनाया, और उसी वंश की उत्तम कन्या से उसका विवाह कर दिया। उस आदि काल में सपिंडों सगोत्रों का भी कभी-कभी विवाह हो जाता था; यथा ईजिप्ट देश में 'फ़ेरो' 'फ़रऊन', का, तथा पेरू देश मे 'इंशा'[1] राजाओं का, बहुधा अपनी बहिन से ही विवाह होता था।

पृथु बड़े प्रतापी, यशस्वी, प्रजा-पालक, नूतन-युग-प्रवर्तक हुए। उनके समय में अकाल पड़ा; प्रजा भूखों मरने लगी; राजा से आक्रन्दन किया; धरा वसुन्धरा धरित्री भूतधात्री (पृथ्वी) पर पृथु को बड़ा क्रोध हुआ; उसको धमकाया, 'तू क्यों मेरी प्रजा को अन्न नहीं देती ?' धरा देवी ने 'गौ' का रूप धारण किया; आदिराज पृथु ने, 'मनु' को (कुटुम्बी प्रजापतियों को) 'वत्स', बछवा, बना कर, गौ को 'वत्सला' दुग्धवती पिन्हा कर के, उससे सब औषधियों, अन्नों, को दूहा; बृहस्पति (ज्ञानियों) को वत्स बना कर, ऋषियों ने 'छन्दोमय' वेद, समस्त ज्ञान, दूहा; इन्द्र को, (इन्द्रियों की शक्ति को), वत्स बना कर देवों ने 'सोम' वीर्य, ओजस्, बल, दूहा; दैत्य दानवों ने, दुष्टों ने, 'सुरा', शराब; अप्सरा और गंधर्वों (कलावन्तों) ने, (गां, वाचं धयंति इति गंधर्वाः, आपः सरंति आभिः इति अप्सरसः, द्विप्रकाराः सूर्यस्य रश्मयः) 'गांधर्व मधु', संगीत विद्या; सिद्ध विद्याधरों ने विविध विद्या और सिद्धियां; मायावियों ने तरह तरह की माया; राक्षसों ने रुधिर; विषधरों ने विष; वृक्षों ने विविध प्रकार के रस; पशुओं ने मातृदुग्ध; पर्वतों ने नाना प्रकार के धातु; इत्यादि। सब प्रकार से प्रजा का 'रंजन' हुआ, इस लिये प्रजा ने पृथु को 'राजा' कहा,' 'आदिराज' माना; धरा को पृथु ने अपनी पुत्री माना, इसका

[1] Pharaoh..

नाम 'पृथ्वी' हुआ; (ज्योतिष में पृथ्वी नाम इसलिये रक्खा गया है, कि सब ग्रहों मे वह अधिक 'घन' 'सालिड' 'डेन्स'[1] है, पृथु अर्थात भारी है)। पृथु में सच्चे राजा के सब गुण पराकाष्ठा में थे,

मातृभक्तिः परस्त्रीषु, पत्न्या अर्धम् इवाऽत्मनः,
प्रजासु पितृवत् स्निग्धः, किंकरो ब्रह्मवादिनाम्,
देहिनामात्मवत् प्रेष्ठः, सुहृदां नन्दिवर्धनः,
मुक्तसंगप्रसंगोऽयं, दंडपाणिः असाधुषु,
अयं तु साक्षाद् भगवान्त्र्यधीशः
कूटस्थ आत्मा कलयाऽवतीर्णः।

प्रजा ने उसको जगदात्मा भगवान् का कलावतार ही माना।

चूर्णयन् स्वधनुष्कोट्या गिरिकूटानि, राजराट्
भूमंडलं इदं वैन्यः प्रायश्चक्रे समं विभुः;
निवासान्कल्पयांचक्रे तत्र तत्र यथाऽर्हतः,
ग्रामान्, पुरः, पत्तनानि, दुर्गाणि विविधानि च,
घोषान्, व्रजान्, सशिविरान्, आकरान्, खेटखर्वटान्
प्राक् पृथोरिह नैवैष पुरग्रामादिकल्पना;
यथासुखं वसंति स्म तत्र तत्रा ऽकुतोभयाः॥

"पृथु ने धनुष की कोटि से पर्वतों को चूर कर के 'समथर,' 'समस्थल' बनाया, और उस पर, प्रजा के बसने के लिये, जैसे पिता पुत्रों के लिये, ग्राम, पुर, पत्तन, दुर्ग, (घोसियों के गाय बैल रखने के) 'घोष', (घूमते फिरते पशु चराने वाले गोपालों के लिये डेरे तम्बू के) 'व्रज', (सेना के) 'शिबिर', आकर (खान), खेट, खर्वट (छोटे छोटे गांव), आदि बनवाये। पृथु के पहिले यह सब नहीं था; प्रजा इधर उधर पड़ी रहा करती थी"। इसी से पृथु आदिराज कहलाये।

इस कथा का अर्थ स्पष्ट ही यह है, कि पृथु के समय से पहिले, पृथ्वीतल की, और ऋतुओं की, अवस्था कुछ दूसरी थी; जैसी अब भी दक्षिण समुद्र के टापुओं मे हैं; बारहो महीने, वसंत का सा मौसिम, बीच बीच मे बर्सात, कभी, कभी भारी वात्या, तूफ़ान; प्रजा को मकान बनाने, गांव शहर बसाने, की, न आवश्यकता, न बुद्धि। फिर अवस्था बदली; पृथु के राज्य काल में, नये सिर से, एक बड़े 'सिविलिज़ेशन'[2], सभ्यता, शिष्टता, का प्रादुर्भाव हुआ; विशिष्ट ज्ञानवान् जीवों ने मनुष्य जाति में जन्म लिया;

---

[1] Solid, dense.

[2] Civilisation.

शास्त्रों का अविष्कार किया; मानव जीवन के प्रकार मे परिवर्तन कर दिया। जैसे आज काल, सौ वर्ष के भीतर भीतर (आधिभौतिक विज्ञान और विविध यंत्रों के निर्माण मे अद्भुत वृद्धि होने के कारण, समग्र मानव जीवन, रहन-सहन, आहार-विहार, वाणिज्य-व्यापार, अटन-भ्रमण, शिक्षा-रक्षा, के बाह्य प्रकारों मे, सर्वथा काया-पलट हो गया है; सभ्यता, कृषि-प्रधान के स्थान में, यंत्र-प्रधान हो गई है। वैसे पृथु के समय में ही ग्राम, नगर, आदि बने और बसे; खेती बारी का हुनर पैदा हुआ; गाय भैंस बकरी पाल कर उनके दूध से काम लिया जाने लगा; गीत-वाद्य की विद्या पैदा हुई; अच्छी के साथ बुरी बातें भी आईं; शराब, गोश्त, का भी व्यवहार आरम्भ हुआ इत्यादि। यह सब विषय, आज काल, पच्छिम के, 'सोशियालोजी'[१] शास्त्र, 'सामाजिक जीवन के आरम्भ आर विकास के इतिहास,' का है। ब्रिटेन के नामी वैज्ञानिक श्री आलफ्रेड रसेल वालेस ने; 'सोशल एनवाइरनमेंट एंड मोरल प्रोग्रेस'[२] नामक अपने ग्रन्थ मे लिखा है, कि अग्नि का, खेती का, दूध दही घी के प्रयोग का, ऊन और रूई से कपड़ा बनाने का, और ऐसी ही कई अन्य परमावश्यकीय वस्तुओं का, उपज्ञान, जो स्यात् लाखों नहीं तो दसियों बीसियों हजार वर्ष पहिले हुआ, वह इधर के सौ वर्ष के अत्यद्भुत आविष्कारों से भी अधिक आश्चर्यमय है।

यों तो गो शब्द के कई अर्थ हैं; गाय बैल, स्वर्ग, सूर्य, किरण, वज्र (बिजली), इन्द्रिय, बाण, दिशा, वाणी, पृथ्वी, तारे, इत्यादि। धातु से अर्थ, 'गच्छति इति गौः' 'जो भी चलै'; अंग्रेजी शब्द भी 'गो' और 'काउ'[३] इसी से निकले हैं। पर इन रूपकों में 'गो' शब्द का अर्थ पृथ्वी ही है।

'कामधेनु' गौ के लिये, विश्वामित्र (क्षत्रिय, पीछे ब्राह्मण) का, वसिष्ठ (ब्राह्मण) के साथ; तथा विश्वामित्र के भगिनीपुत्र जमदग्नि (ब्राह्मण) और उनके पुत्र परशुराम का, कार्त्तवीर्य (क्षत्रिय) के साथ, बहुत वर्षों तक, घोर संग्राम हुआ। दोनों 'कामधेनुओं' ने, अपने 'खुर, पेट, पूछ, सींग' से, 'शक, पह्लव, काम्बोज, यवन, म्लेच्छ' आदि जातियों की बड़ी बड़ी सेनाएं उत्पन्न कीं। दोनों तरफ भारी जनसंहार हुआ; वसिष्ठ के भी, विश्वामित्र के भी, सौ सौ पुत्र मारे गये, जमदग्नि और उनके कुटुम्ब के बहुतेरे मारे गये; परशुराम ने कार्त्तवीर्य और उसके वंश को मारा, और फिर फिर, तीन

---

[१] Sociology.

[२] Alfred Russell Wallace, *Social Environment and Moral Progress.*

[३] Go ; Cow.

वर्णों की सेनाएं बना बना कर, इक्कीस युद्धां मे, पृथ्वी को 'निःक्षत्रिया' करने का महायत्न किया। बहुत वर्षों के, और बड़े बड़े तरह तरह के उपद्रवों, और प्रजा और राष्ट्रों के विप्लवों, के बाद, शांति हुई।

विश्वामित्र और कार्त्तवीर्य दोनों की कथाओं का, आज काल के शब्दों मे, अर्थ यही है कि महाभारत काल से पहिले, ब्राह्मण वर्ग और क्षत्रिय वर्ग में, उपजाऊ भूमि का लोभ बहुत बढ़ा; दोनों ने उचित से अधिक भूमि को, अपने भोग विलास के लिये, अपने अधिकार में रखना चाहा; प्रजा की भलाई की चिन्ता बहुत कम की; आपस में युद्ध हुए; क्षत्रियों की सेना तो बनी बनाई थी; ब्राह्मणो ने बाहरी जातियों को, अपनी भूमि की पैदावार देकर, अपनी सहायता के लिये, बुलाया; दोनों का बहुत ध्वंस हुआ; अंत में, किसी किसी रीति से, संधि शान्ति हुई। यही कथा, यूराप के इतिहास मे, कई बेर हो चुकी है। 'चर्च और स्टेट' 'प्रीस्ट और किंग', 'सासरडोटलिस्ट और मिलिटरिस्ट', 'थियोक्राट और टाइमोक्राट'[1] के बीच में, जमीदारी धन, आज्ञा-शक्ति, अधिकार, भोग विलास, को अति लालच से, बड़ी बड़ी लड़ाइयां हुईं; जिनमे प्रजा की तबाही हुई। 'फ्रेंच रिवोल्यूशन' के समय भी 'चर्च' की बहुत जायदाद छीनी गई; हाल में, रूस मे, जनता ने, 'प्रीस्ट' की भी, और जमीदार की भी, सब जमीन छीन ली[2]; सन् १९३६-३७-३८ मे, स्पेन में, प्रजा-विनाशक भारी गृहयुद्ध हुआ, जिसमे भी एक मुख्य कारण यह था, कि 'चर्च' की बहुत जमीन, नये बनाये संघ-राज्य के अधिकारियों ने, छीन ली थी; और इस गृहयुद्ध में चर्च के पक्ष वाले सेनानियों की जीत हुई है।

'सोशियोलाजिकल हिस्टरी' का, 'ईवोल्यूशन का[3] ऐसा रूप और क्रम क्यों होता है, इस प्रश्न का उत्तर, चैतन्य-परमात्मा की प्रकृति के प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप असंख्य प्रकार के विकास-संकोच को बतलाने वाले आत्म-दर्शनशास्त्र से मिलता है।

रूपकों की चर्चा का प्रयोजन

यहाँ, यह सब चर्चा, केवल इस वास्ते कर दी, कि 'दर्शन' से कहाँ तक 'आँख' फैलने का सम्भव हो जाता है, यह जिज्ञासु को मालूम हो जाय; पुराण ग्रन्थों के अक्षरार्थ पर अंध-श्रद्धा न की जाय; न यक-बारगी, उनको अफ्यून्ची

---

[1] Church and state; priest and king; altar and throne; crozier and sceptre; book and sword; tiara and crown; sacerdotalist and militarist; theocrat and timocrat.

[2] French Revolution; church; priest.

[3] Sociological history; evolution.

की गप्प कह कर, कूड़ेखाने में फेंक दिया जाय; बल्कि उनका बुद्धि-सम्मत, युक्ति-युक्त, गूढ़ अर्थ खोजा जाय। पहिले ही कहा है, पर फिर से याद दिला देना उचित है, कि ऊपर जो अर्थ पौराणिक रूपकों के सूचित किये गये हैं, वे कदापि निश्चित प्रमाणित नहीं हैं; युक्ति-द्वारा कल्पना मात्र हैं; बुद्धिमान् पाठक स्वयं इनमे विस्तार, संकोच, मार्जन, शोधन कर लेंगे।

कोई कहेगा कि 'बह्वायासे लघुक्रिया'; 'कोह कन्दन व काह बरावर्दन'; पहाड़ खोद कर चूहा निकालना; भारी मिहनत करके, एक-एक रूपक का अर्थ खोजैं, वह भो निश्चित न हो, और ऐसी कोई नई बात भी न मालूम हो; तो ऐसा क्यों करैं? पाश्चात्य विज्ञान की पुस्तकों से, क्या इस सबसे बहुत अधिक ज्ञान, हमको, इसकी अपेक्षा बहुत सरलता से, नहीं मिल सकता?

इस शंका का मुख्य समाधान यह है, कि अध्यात्म-विषयक, योग-विषयक, जो ज्ञान इन प्राचीन ग्रन्थों से, उनकी वर्त्तमान शीर्ण-जीर्ण अवस्था मे भी, मिल सकता है, वह अभी तक पाश्चात्य वैज्ञानिकों को प्राप्त नहीं हुआ है। पश्चिम में, जो पाञ्चभौतिक वस्तुओं का आधिभौतिक विज्ञान, और बाह्य शक्तियों का ('हीट', 'लैट', 'सौंड', 'इलेक्ट्रिसिटी', 'मैग्नेटिज्म' आदि का)[१] आधि-दैविक विज्ञान, वहाँ के अन्वेषकों गवेषकों ने प्राप्त किया है, उसको हमें, आदर के साथ, और सदुपयोग के लिये, लेना ही चाहिये; पर उसके साथ, हमको अपने प्राचीन आध्यात्मिक ज्ञान का, और आभ्यंतर शक्तियों के आधिदैविक ज्ञान का, जीर्णोद्धार करके संग्रथन करना, भी परम आवश्यक हैं। संभव है कि, वैदिक और पौराणिक सूचनाओं और रहस्यों पर, उचित रीति से, ध्यान करने से, नई आधिदैविक और आधिभौतिक बातों का भी विज्ञान मिले। दोनों के, प्राचीन और प्रतीचीन के, पुराण और नवीन के, प्रज्ञान और विज्ञान के, उत्तम समिश्रण से, समन्वय से, और सम्यग्दर्शन के अनुसार सत् प्रयोग से, 'सनातन'-पदार्थ के अनुकूल 'धर्म' के बताये मार्ग पर चलकर सदुपयोग करने से, हीं, भारत का, तथा सर्व मानव जगत् का, कल्याण हो सकता है।

सभी ज्ञान, कर्म के वास्ते हैं।

"सर्वमपि ज्ञानं कर्मपरं"—यह मीमांसकों का मत है। अर्थात् "सब ज्ञान का प्रयोजन यही है कि किसी कर्म का उपयोगी हो।" शांकर सम्प्रदाय के वेदान्तियों ने इस उत्सर्ग से यह अपवाद लगाया है कि, "ऋते आत्मज्ञानात्"; "आत्मज्ञान स्वयं साध्य है, किसी कर्म का साधक नहीं।" कर्मकांडी मीमां-

---

[१] Heat; light; sound; electricity; magnetism.

सकों ने इस शांकर मत का दूसरी रीति से उत्तर दिया है। जैसा तन्त्र-वार्त्तिक की न्याय-सुधा नामक टीका में सोमेश्वर भट्ट ने (अ० १, पाद २, में) कहा है।

परलोकफलेषु कर्मसु विनाशिदेहादिव्यतिरिक्तनित्यकर्तृभोक्तृरूपात्मज्ञानं विना प्रवृत्त्यनुपपत्तेः, अहं-प्रत्ययेन च, देहेऽपि दृष्टेन, स्फुटतया तद्व्यतिरेकस्य ज्ञातुम् अशक्यत्वात्, शास्त्रीयम् आत्मज्ञानं क्रतुविधिभिरपेक्षितं;...उपनिषज्जनितस्यात्म-ज्ञानस्य...क्रत्वंगत्वावधारणात् तद्द्वारेण पुरुषार्थानुबन्धित्वम्।

अर्थात् "स्वर्ग-साधक यज्ञादि कर्म-कांड में मनुष्य की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, जब तक उसको यह विश्वास न हो, कि इस नश्वर शरीर से व्यतिरिक्त कोई आत्मा है, जिसको स्वर्ग का अनुभव हो सकता है। और ऐसा विश्वास, आत्मा के अस्तित्व का, उपनिषदों से होता है। इस लिये उपनिषत् और तज्जनित आत्मज्ञान भी कर्मपरक हैं।"

इसका भी प्रत्युत्तर, 'आत्म-ज्ञान' और 'आत्म-अनुभव' में सूक्ष्म विवेक करने से हो सकता है; यथा, 'अनुभव' का केवल तृतीय अंश 'ज्ञान' है; अन्य दो अंश, 'इच्छा' और 'क्रिया'; यह तीनों मिलकर, 'अहं अस्मि' इस 'अनु-भव' में अंतर्गत हैं; ऐसा अनुभव, स्पष्ट ही 'कर्म-परक' नहीं हो सकता, सब कर्म, सब इच्छा, सब ज्ञान, इसमें अन्तर्गत हैं; "स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्वः"; तथा, स्वर्गादि-साधक यज्ञादि काम्य-कर्म से, निर्गुण परमात्मज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं, केवल जीवात्मज्ञान से सम्बन्ध है, यह विचार करने से भी प्रत्युत्तर हो सकता है। यज्ञों से, स्वर्ग की प्राप्ति वेदों में कही है; पुनःपुनः जन्म-मरण के बन्ध से मोक्ष, और अमरत्व की प्राप्ति, नहीं कही है; आत्मानु-भवात्मक ज्ञान, बाह्य विषयों के, तथा आंतःकरणिक बौद्ध प्रत्ययों वृत्तियों के भी, ज्ञान से भिन्न है; इत्यादि। पर इस सब सूक्ष्मेक्षिका में पड़ने का यहां काम नहीं है; अपने को यह अभीष्ट ही है, कि जीवात्मज्ञान अर्थात् जीवात्मा की त्रिगुणात्मिका प्रकृति का, उसके गताऽगत का, आवागमन का, पुनःपुनः जन्ममरण का, अवारोह-उपारोह का, प्रवृत्ति-निवृत्ति का, ज्ञान, तो, न केवल कर्म-परक है, अपितु सत्कर्म के, सज्जीवन के, लिये, नितांत आवश्यक है; बिना उसके, काम ठीक चल सकता ही नहीं;

न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते (मनु)
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्। (गी०)

गीता में मुख्यतः जीवात्मा की प्रकृति का ज्ञान, अर्थात् 'अध्यात्म-विद्या', और उसमें नितरां प्रसक्त होने के कारण 'आत्म-विद्या' 'ब्रह्मविद्या', भी, जो कही गई, वह स्पष्ट ही इसी लिये कि, वह अर्जुन के लिये 'कर्म-परक' हो, उनको धर्म-युद्ध के कर्म में प्रवृत्त करै। "मां अनुस्मर" ज्ञानांश, 'थियरी';

"थ्यूरी" "कर्मांश', प्रैक्टिस"।[1] यहाँ, इसके सिवा इतना ही कहने की आवश्यकता है, कि मीमांसा का यह सब आशय, तथा शांकर सम्प्रदाय वालों का भी, तथा अन्य बहुत कुछ अर्थ, मनु भगवान् के थोड़े से श्लोकों में भरा पड़ा है। उस पर पर्याप्त ध्यान देने से, सच्चा आत्म-दर्शन भी हो सकता है, और तदनुसार लोक-यात्रा भी, व्यक्ति की भी, समाज की भी, कल्याणमय बनाई जा सकती है।

धर्म और दर्शन, दोनों, स्वार्थ भी परार्थ भी, परमार्थ भी

यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। (वैशेषिक सूत्र)

वेदान्त पर, ब्रह्मविद्या पर, प्रतिष्ठित, मानव धर्म ऐसा है, कि इससे इहलोक और परलोक, अभ्युदय और निःश्रेयस, दोनों, 'अभ्युदय' में अंतर्गत धर्म, अर्थ, काम भी, और 'निःश्रेयस' अर्थात् मोक्ष भी, सभी चारों पुरुषार्थ, उत्तम रीति से सध सकते हैं। "ब्रह्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठा" है, इस लिये अध्यात्मविद्या तो उसके अंतर्गत ही है।

न केवल संस्कृत शब्दों में, भारतवर्ष के ही बुज़ुर्गों ने, कहा है, बल्कि अरबी-फ़ारसी शब्दों में, सूफ़ी बुज़ुर्गों ने भी कहा है,

गौहरे जुज़ ख़ुद-शिनासी, नीस्त दर बहरे वुजूद ;
मा ब गिर्दे ख़्वेश मी गर्देम् चूं गिर्दाबहा।
तरीक़त बजुज़ ख़िदमते ख़ल्क़ नीस्त ;
ब तसबीहो सज्जादः ओ दल्क़ नीस्त।

"इस भवसागर में मोती है तो केवल ख़ुदशिनासी, आत्मज्ञान, ही है। जैसे पानी में भँवर अपने ही चारो ओर घूमता और चक्कर खाता है, वैसे ही हम सब अपनी आत्मा के ही चारो ओर भ्रमते रहते हैं; 'मैं', 'मैं', 'मैं',— इसी पर हमारी ज़िन्दगी नाचती-फिरती रहती है। सच्चे 'मैं', सच्चे आत्मा, को पाने और साबित करने का तरीक़ा, सिवा इसके और कुछ नहीं है, कि ख़िलक़त की ख़िदमत करो, लोकसेवा करो। तसबीह अर्थात् माला फेरना, और सज्जादा यानी आसन बिछा कर चुप्पी साधना, दल्क़ अर्थात् कन्था कथरी गूदड़ी ओढ़ना—यह आत्मा को पाने का उपाय नही हैं।" हाँ, यह सब भी, विशेष अवस्था मे, साधन के अंग हैं; पर तभी सच्चे और सफल होंगे, जब सर्वभूतदया, सर्वभूतप्रियहितेहा, सर्वभूतहिते रतिः, ख़िदमते खल्क़, उनके पीछे, उनके साथ, लगी रहे, उनकी प्रेरक हो।

यदि वह चालीस या पचास लाख वेशधारी साधु-संत, बैरागी,

---

[1] Theory ; practice.

उदासी, संन्यासी, फ़क़ीर, औलिया, महन्त, मठधारी, मन्दिराधिकारी, तकियादार, सज्जादा-नशीन, आदि, जिनकी चर्चा पहिले की गई—यदि ये लोग, आरामतलबी और पाप त्याग कर, सच्चे 'साधु', सच्चे आत्मदर्शी और लोकहितैषी, ख़ादिमे-ख़ल्क़, हो जायँ, तो आज इस अभागे देश के सब प्रकार के दुःख के बन्धन टूट और छूट जायँ; इन सब आर्थिक, शासनिक, धार्मिक, रक्षा-शिक्षा-भिक्षा-सम्बन्धी, सभी दुःखों, बन्धनों, ग़ुलामियों से मोक्ष मिलै, नजात हो; और भारत भूमि पर स्वर्ग देख पड़ने लगे; तथा, इसके नमूने से, अन्य देशों मे भी उत्तम समाजव्यवस्था फैले।

जैसा पहिले कहा, एक-एक मन्दिर की, विशेष कर दक्षिण में, इतनी आमदनी और इतनी इमारत है, कि सहज में एक-एक युनिवर्सिटी, विश्वविद्यालय, कलागृह, और चिकित्सालय, का काम, उनमें के एक-एक से चल सकता है। यदि सब वक़्फ़ की जायदादों का, और सब धर्मत्र देवत्र संस्थाओं और 'अखाड़ों' और मन्दिरों और दर्गाहों का, प्रबन्ध, सद्बुद्धि से हो; और उनके अधिकारी, सदाचारी और लोक-हितैषी हों, और स्वयं पढ़ने-पढ़ाने आदि के काम में, और रोगियों की चिकित्सा में, लग जायँ; तो इनकी आमदनी और मकानात से, आज पचास युनिवर्सिटी, और हुनर सिखाने के कालिज, और प्रत्येक गांव में एक स्कूल, अर्थात् समग्र भारत में सात लाख स्कूल, और हर बड़े शहर में एक चिकित्सालय, आयुर्वेद-तिब्ब के अनुसार, काम कर सकते हैं। और इतने सदाचार का, 'इंद्रियनिग्रह' के लिये और प्रजा की संख्या की अतिवृद्धि रोकने के लिये, तथा अन्य सब प्रकार से, समस्त जनता पर, शासक पर और शासित पर, कैसा कल्याणकारक प्रभाव पड़ेगा, यह सहज में समझा जा सकता है।

वर्णधर्म और आश्रमधर्म का मूल-शोधन, इस अध्यात्मशास्त्र के तत्त्वों के अनुसार, कैसा होना चाहिये और हो सकता है, जिससे समाज के सब दुःख दूर हो जायँगे—इसका प्रतिपादन अन्य स्थानों और अवसरों पर, इस लेखक ने पुनःपुनः किया है। यहाँ विशेष विस्तार करने का अवसर नहीं है। तौभी इस अध्याय के अन्त में, संक्षेप से, उस धर्म के मुख्य तत्त्वों का वर्णन, मनु के, तथा अन्य, श्लोकों से, उनके अनुवाद के साथ, किया जाता है।

दर्शनसार और धर्मसार

विस्मृत्य-इवपरात्मत्वं, जीवात्मत्वं गता चितिः,
वासनानां प्रभावेण भ्रामिता बहुलान् युगान्,
बह्वीर्योनीरनुप्राप्य, मानुष्यं लभते ततः,
तामसान् राजसान् भावान् सात्त्विकांश्च, पुनः पुनः।

परोपकारात् पुण्यानि, पापान्यप्यपकारतः,
दुःखानि चाप्यसंख्यानि, तथाऽसंख्यसुखानि च,
द्वंद्वा-न्यन्या-न्यनन्तानि नानारूपाणि सर्वशः,
जीवोऽनुभूय मानुष्ये, सत्त्वोद्रेके सुकर्मभिः,
"अनेकजन्मसंसिद्धः,ततो याति परां गतिम्;
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् 'मां' प्रपद्यते;" (गी०)
आत्मनः परमात्मत्वं संस्मरन् वेत्ति तत्त्वतः;
बुद्ध्याऽऽत्मानं तु सात्त्विक्या सम्यग्गृह्णाति सूक्ष्मया;
दुःखातीतां सुखातीतां शांतिं चापि समश्नुते।
"प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च, कार्याऽकार्ये, भयाऽभये,
बंधं मोक्षं च या वेत्ति, बुद्धिः सा सात्त्विकी स्मृता"। (गी०)
बुद्ध्या समग्रं सात्त्विक्या वेदशास्त्रं सुबुध्यते।
"चातुर्वर्ण्यं, त्रयो लोकाः चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्,
भूतं, भव्यं, भविष्यं च, सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।
धर्मं बुभुत्समानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः"; (मनुः)
श्रुतिं बुभुत्समानानामात्मज्ञानं परायणम्।
पुरुषार्थाश्च चत्वारः, चतस्रश्चापि वृत्तयः,
ऋणानि चैव चत्वारि, चतस्रश्चैषणास्तथा,
हृदयाप्यायनीयानि स्वधर्मोत्साहनानि च
विशिष्टेष्टानि चत्वारि तोषणानि मनीषिणाम्—
सम्यग् अध्यात्मविद्यायाः एतत् सर्वं प्रसिध्यति।
"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः;
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः"। (गी०)
समाजकायव्यूहस्य चत्वार्यंगानि चैव हि;
शिक्षाव्यूहस्, तथा रक्षाव्यूहः, पोषक एव च,
सेवाव्यूहश्च तुर्यश्चा,प्यंगिनोऽङ्गानि संति हि।
यथा शरीरे ज्ञानांगं शिरो, ज्ञानेन्द्रियैर्भृतं,
बाहू क्रियांगं च तथा, सर्वशौर्यक्रियाक्षमं,
इच्छांगमुदरं चैव संग्राहि-आहारि-पोषकं,
पादौ च सर्वसेवांगं सर्वसंधारकं तथा।
आयुषश्चापि चत्वारो भागाः, आश्रम-संज्ञिताः;
प्रत्येक आयुषः पादे जीवेनाश्रम्यते यतः,
तत्तद्वयोऽनुरूपे हि, विशेषे धर्मकर्मणि।
"आश्रमादाश्रमं गत्वा, यज्ञैरिष्ट्वा च शक्तितः,
ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य, मनो मोक्षे निवेशयेत्", (मनु०)

चतुर्थ आश्रमे तुर्यऋणापनयनाय हि ।
"अनपाकृत्य तान्येव मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः" ।
सुखाभ्युदयिकं चैव, नैःश्रेयसिकमेव च ,
प्रवृत्तं च, निवृत्तं च, कर्म द्विविधमुच्यते" । (मनु०)
धर्मश्चार्थश्च कामश्च, त्रयं ह्यभ्युदयः स्मृतः ;
मोक्षो यस्तु चतुर्थोऽर्थः, तं हि निःश्रेयसं विदुः ।
"इज्या ऽऽचार-दमा-हिंसा-यज्ञ-स्वाध्याय-कर्मणाम् ,
अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनाऽऽत्मदर्शनम्" । (याज्ञवल्क्य स्मृति०)
"सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं, सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि ,
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ;
सर्वमात्मनि संपश्येत् , सच् चाऽसच्च, समाहितः ;
सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाऽधर्मे कुरुते मनः ।
आत्मैव देवताः सर्वाः, सर्वमात्मन्यवस्थितम् ;
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ।
एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्याऽऽत्मानमात्मना ,
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माऽभ्येति परं पदम्" । (मनु०)
ब्रह्माभ्येति परं पदम् ।। ॐ ।।

अर्थात् , "चितिशक्ति, चेतना, चैतन्य, अपने परमात्म-भाव को मानो भूल कर, जीवात्म-भाव को धारण कर लेता है । वासनाओं के अनुसार, लाखों योनियों में, लाखों प्रकार के शरीरों में, जन्म लेता है, और असंख्य द्वन्द्व, सुख-दुःख-प्रधान, भोगता है । अवारोह-पथ, प्रवृत्ति-मार्ग, अधो-गति, 'क़ौसि-नज़ूल', पर उतरता हुआ, देवभाव से, क्रमशः, कीट-पतंग आदि भाव से भी जड़, निःसंज्ञ प्राय, मणि ('मिनरल'),[1] पत्थर, आदि की अवस्था में आ पहुँचता है; और फिर इससे उठकर, आरोह-पथ, निवृत्ति-मार्ग, ऊर्ध्व-गति, 'क़ौसि-उरूज', पर चढ़ता हुआ, मनुष्य-भाव में आता है । इस योनि में भी बहुत जन्म लेता है; असंख्य तामस, राजस, सात्त्विक, इच्छा-क्रिया-ज्ञान, के भावों का, और उनके साथ बँधे हुए असंख्य दुःख और सुख के भावों का, अनुभव करता है । बहुत जन्मों के, 'तनासुख' के, बाद, सत्त्व के उद्रेक से, 'इल्म' की बेशी होने पर, सत्कर्म कर के, अपने परमात्म-भाव को, 'रूह-आज़म' की हालत को, फिर पहिचानता है; तब उसको, सुख-दुःख दोनों से परे, सच्ची शान्ति, मोक्ष, निर्वाण, परमानंद, 'नजात', 'फ़ना-फ़िल्ला', 'सुरूरि-जावेदानी', ब्रह्मानन्द, 'लज़्ज़तुल्-इलाहिया', ब्रह्मलीनता, 'इस्तिग़्राक़', मिलता

[1] Mineral.

है। इस ऊर्ध्वगामी 'देवयान', पर भी, क्रमशः, जीव को उन सीढ़ियों पर चढ़ना पड़ता है, जिनसे वह उतरा है। अति सूक्ष्म, अति सात्त्विक, बुद्धि वह है, जो प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भयस्थान और अभय-स्थान, बंध और मोक्ष, के सच्चे रूप को, ठीक-ठीक पहिचानती है। ऐसी सात्त्विक बुद्धि, वेद-शास्त्र के मर्म को जानती है। वह मर्म, मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक, प्रातिस्विक और सार्वस्विक, 'इन-फ़िरादी' और 'इजमाई', 'इंडिविड्युअल' और 'सोशल', कल्याण के लिये, वर्ण-आश्रम धर्म में रख दिया है।[1] "परमात्मा के स्वभाव से, प्रकृति से, उत्पन्न तीन गुण; सत्त्व, रजस्, तमस्, जो ज्ञान, क्रिया, और इच्छा के मूलतत्त्व वा बीज हैं; इनकी प्रधानता से, तीन प्रकार के, तीन स्वभाव के, तीन प्रकृति के, मनुष्य, (१) ज्ञान-प्रधान, ज्ञानी, शिक्षक, 'आलिम', (२) क्रिया-प्रधान, रक्षक, शूर, 'आमिल', (३) इच्छा-प्रधान, पोषक, संग्रही, 'ताजिर', (४) इन तीन के साथ चौथी प्रकृति, 'बालक-बुद्धि', 'अव्यक्त-बुद्धि', जिसमें किसी एक गुण की प्रधानता, विशेष विकास, न देख पड़े, गुण-साम्य' हो, वह सेवक, श्रमी, 'मजदूर'। ये हुए चार वर्ण; मुख्य 'पेशे'। किसी देश के किसी सभ्य समाज में, ये चार वर्ण अवश्य पाये जाते हैं; पर उतने विवेक से, और उस काम-दाम-आराम के, धर्म-कर्म-जीविका के, विभाजन के साथ नहीं, जैसा भारतवर्ष में, प्राचीन स्मृतियों में, इनके लिये आदेश किया है।

"जैसे समाज के जीवन में चार मुख्य पेशे, वैसे प्रत्येक मनुष्य के जीवन में चार 'आश्रम'; (१) ब्रह्मचारी, विद्यासीखने का, 'तालिबि-इल्म', 'शागिर्द', का; (२) गृहस्थ, 'ख़ानादार', का; (३) वानप्रस्थ, 'गोशा-नशीन,' का; (४) संन्यासी, 'फ़क़ीर', 'दुर्वेश' का।

"मनुष्य के चार पुरुषार्थ, 'मक़ासिदि-जिन्दगी', हैं। धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष वा ब्रह्मानंद, यानी 'दयानत, दौलत, लज्ज़ति-दुनिया, और नजात या लज्ज़तुल् इलाहिया'। पहिले तीन आश्रमों मे अधिकतर धर्म-अर्थ-काम, और चौथे में विशेष-रूप से मोक्ष, को साधना चाहिये।

"तीन (अथवा चार) ऋणों को, क़र्ज़ों' को, लेकर, मनुष्य पैदा होता है। (१) देवों का ऋण, जिन्हों ने पंच महाभूतों की सृष्टि, परमात्मा के नियमों के अनुसार, फैलाई है; जिन महाभूतों से हमारी पंचेंद्रियों के सब विषय बने हैं; (२) पितरों का ऋण, जिनकी सन्तति, वंश-परम्परा से, हम हैं; जिनसे हम को यह शरीर मिला है, जो देह हमारे सब अनुभवों का साधन है; (३) ऋषियों का ऋण, जिन्हों ने वह महासंचय, विविध

---

[1] Individual; social.

प्रकार के ज्ञानों का, शास्त्रों में भर कर रख दिया है, जिसकी ही सहायता से, हमारा वैयक्तिक और सामाजिक जीवन, सभ्य शिष्ट बनता है, और जिसके बिना हम पशु-प्राय होते; (४) चौथा ऋण, परमात्मा का, कहा जा सकता है, जो हमारा चेतन ही है, प्राण ही है, जिसके बिना हम निर्जीव होते। इन चार ऋणों के निर्मोचन निर्यातन का उपाय भी, चार आश्रमों के धर्म-कर्मों का उचित निर्वाह ही है। (१) विद्या-संग्रहण, और सन्तति को विद्यादान, से, ऋषि ऋण चुकता है; क्योंकि उससे, प्राचीनों का, ज्ञान के संग्रह में, जो भारी परिश्रम हुआ है, वह सफल होता है; (२) सन्तति के उत्पादन, पालन, पोषण, से पितरों का ऋण चुकता है; क्योंकि जैसा परिश्रम हमारे माता पिता ने हमारे उत्पादन, पालन, पोषण, के लिये किया, वैसा हम अपने आगे की सन्तति के लिये करते हैं; (३) विविध प्रकार के 'यज्ञ' करने से, 'इष्ट' और 'आपूर्त्त' से, देवों का ऋण चुकता है। यथा, वायु देवता से हमारा श्वास-प्रश्वास चलता है, हवा को हम गन्दा करते हैं; उत्तम सुगन्धी पदार्थों के धूप-दीप से, होम-हवन से, हवा पुनः स्वच्छ करना चाहिये; जङ्गल काट काट कर, हम, लकड़ी को, जलाने मे, मकान और सामान बनाने के काम में, खर्च कर डालते हैं; नये लखगाँव, बाग, उद्यान, लगा कर, फिर नये पेड़ तैयार कर देना चाहिये; वरुण देव के जल का प्रति-दिन हम लोग व्यय करते रहते हैं; नये तालाब, कुँए, नहर आदि बना कर, उसकी पूर्त्ति करना चाहिये। ये सब यज्ञ हैं। परोपकरार्थ जो भी काम किया जाय वह सब यज्ञ है। गीता में कई प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया है। उसमें भी, होम-हवन आदि 'इष्ट' कहलाते हैं, और, वापी, कूप, तटाक, वृक्षारोपण आदि 'आपूर्त्त'। इन सब यज्ञों से देव-ऋण चुकता है। (४) परमात्मा का ऋण, मुक्ति प्राप्त करने से, सब में एक ही आत्मा को व्याप्त देखने से, चुकता है। क्रम से, चार आश्रमों में चार ऋण अदा होते हैं। यह याद रखना चाहिये कि, सब बात, 'प्राधान्येन', 'वैशेष्यात्' 'भूयसा', कही जाती हैं; 'एकान्तेन', 'अत्यन्तेन', नहीं। संसार में सब वस्तु, सब भाव, सब आश्रम, वर्ण, आदि, सदा मिश्रित हैं; जो जिस समय प्रधान रूप से व्यक्त होता है, उसी का नाम लिया जाता है।

"ऐसे ही तीन वा चार एषणा, 'हिर्स', 'तमा', 'आर्जू', 'तमन्ना', तृष्णा, आकांक्षा, वासना, मनुष्य को, स्वाभाविक, 'फ़ित्रती', पैदाइशी, होती हैं। (१) लोकैषणा, 'अहं स्याम्', 'मैं इस लोक और परलोक में सदा बना रहूँ, मेरा नाश कभी न हो'; इसका शारीर रूप 'आहार' की, 'ग़िज़ा' की, इच्छा है; और मानस रूप, 'सम्मान', यश, कीर्त्ति, 'नेकनामी', 'इज़्ज़त', की ख्वाहिश; (२) वित्तैषणा, 'अहं बहु स्याम्', 'मैं और अधिक, ज्यादा, होऊँ'; इसका शारीर रूप, सब अंगों की, हाथ पैर की, पुष्टि, बलवृद्धि, सौन्दर्यवृद्धि; और मानस-रूप, विविध प्रकार के धन 'दौलत' का बढ़ाना; (३) दार-सुतै-षणा, 'अहं बहुधा स्याम्',

'प्रजायेय', 'मैं अकेला हूँ, सो बहुत हो जाऊँ; मेरे पत्नी हो और बालबच्चे हों', 'अहलो-अयाल हों', 'ज़ौजा व औलाद हों', बहुतों पर मेरा अधिकार हो, ऐश्वर्य हो, 'हुकूमत' हो; (४) चौथी एषणा मोक्षैषणा है, 'नजात' की ख्वाहिश; इस सब जंजाल में, 'फ़ितना, फ़िसाना, जाल' में, बहुत भटक लिये, अब इससे छुटकारा हो। यह चार एषणा भी, चार पुरुषार्थों की रूपांतर ही हैं, और चारो आश्रमो के धर्म-कर्म से, उचित रीति से पूरी होती हैं।

"चारो वर्णों के लिये चार मुख्य धर्म अर्थात् कर्त्तव्य, 'फ़र्ज़', और चार वृत्तियाँ, जीविका, 'रिज़्क़'; और चार तोषण, राधन, प्रोत्साहन, (अंग्रेजी में 'स्टिम्युलस', 'इन्सेन्टिव्',),[१] 'मुहर्रिक', 'राग़िब', हैं। (१) विद्योपजीवी, शास्त्री, शास्त्रोपजीवी, विद्वान्, शिक्षक, उपदेष्टा, ज्ञानदाता, 'आलिम' 'मुअल्लिम', 'हकीम', के लिये, ज्ञान-संग्रह और ज्ञान-प्रचार करना; अध्यापन, याजन, प्रतिग्रह, यानी, विद्या सिखा कर, किसी विषय का ज्ञान देकर, उसके लिये आदर सहित दक्षिणा ('आनरेरियम') लेना; किसी 'यज्ञ' में पब्लिक वर्क' में, सार्वजनिक हित के कार्य में, ज्ञान की, 'इल्मी', सहायता देकर, दक्षिणा 'फ़ी'; लेना; वा आदर के साथ जो कोई दान दे, 'भेंट', उपहार, पुरस्कार, दे, 'नज़र,' 'प्रेज़ेन्ट' दे, वह लेना। (२) क्रियोपजीवी, 'शस्त्री', 'शस्त्रोपजीवी, रक्षक, आदेष्टा, शासक, आणदाता, 'आमिल', 'हाकिम', 'आमिर', 'अमीर' के लिये, (अरबी में 'अम्र' का अर्थ 'आज्ञा' है), अस्त्र-शस्त्र के, हथियार के, द्वारा, दूसरों की रक्षा, हिफ़ाज़त, करना; और उसके लिये, जो कर, ख़िराज, 'टैक्स', लगान, मालगुज़ारी,' राष्ट्र की ओर से वेतन, मिले, उसे लेना। (३) वार्त्तोपजीवी, कृषक, गोपालक, वणिक्, रोजगारी, 'ताजिर', पोषक, व्यापारी, के लिये, अन्नवस्त्र आदि जीवनोपयोगी, विविध प्रकार के, आवश्यकीय, निकामीय, और विलासीय पदार्थ, 'नेसेसरीज़, कम्फ़र्ट्स, और लक्षरीज़,'[२] ज़रूरियात, आसायिशात, और इश्रतीयात, उत्पन्न करना, और उचित दाम लेकर देना; और जो इस रोज़गार से, लाभ, 'मुनाफ़ा', हो, वह लेना। (४) श्रमोपजीवी, सेवोपजीवी, 'मज़दूर', (शुद्ध शब्द फ़ारसी का 'मुज़्द-वर' है), भृतक, कर्मकर, किंकर, के लिये, अन्य तीन वर्णों की सेवा-सहायता करके, जो मज़दूरी, भ्रात, भृति, मिलै, वह लेना।

"यह, चार पेशों के चार प्रकार के धर्म-कर्म, अधिकार-कर्त्तव्य, हक़-फ़र्ज़, और उनकी चार प्रकार की जीविका, हुई। तोषण उनके, ऊपर कहे जा चुके,

---

[१] Stimulus; incentive; honorarium; public work; fee; present; tax.

[२] Necessaries; comforts; luxuries.

अर्थात् ज्ञानी के लिये विशेष सम्मान, 'इज्जत' 'आनर'; शासक के लिये विशेष अधिकार, आज्ञा-शक्ति, ऐश्वर्य, ईश्वर-भाव, 'हुकूमत' 'आफिशल पावर', 'आथारिटी'; पोषक के लिये विशेष 'दौलत', धन-सम्पत्ति, 'वेल्थ'; सेवक सहायक के लिये विशेष क्रीड़ा-विनोद, 'खेल तमाशा' 'तफ्रीह', 'ऐम्यूज़मेंट' 'प्ले' [1]

"जैसे एक मनुष्य के शरीर के व्यूह ('आर्गेनिज़्म') में चार अंग देख पड़ते हैं, सिर, बाँह, धड़, और पैर; वैसे ही मनुष्य समाज के व्यूह में भी चार अंग, चार अवान्तर, परस्पर सम्बद्ध, संग्रथित, संहत, संघातवान्, व्यूह होते हैं। (१) शिक्षा-व्यूह, 'लर्नेड प्रोफ़ेशन्स'; (२) रक्षा-व्यूह, 'एक्ज़िक्युटिव प्रोफ़ेशन्स'; (३) वार्त्ता-व्यूह 'कामर्शल प्रोफ़ेशन्स'; (४) सेवा-व्यूह 'इंडस्ट्रियल प्रोफ़ेशन्स' [2]। शिक्षक वर्ण वा वर्ग और विद्यार्थी आश्रमी वा वर्ग मिल कर शिक्षा-व्यूह बनता है। शासक वर्ण और वनस्थ आश्रमी मिल कर रक्षा-व्यूह; वानप्रस्थ सज्जन, शासक वर्ग को, परामर्श और उपदेश देते रहते हैं; और उनके काम की देख रेख करते रहते हैं; जैसा इतिहास-पुराणों में ऋषियों और राजाओं के प्रश्नोत्तर की कथाओं से दिखाया है। वणिग् वर्ण और गृहस्थ आश्रमी मिलकर वार्त्ताव्यूह बनता है। श्रमी वर्ण और संन्यास-आश्रमी मिल कर सेवाव्यूह सम्पन्न होता है; श्रमी वर्ण समाज की शारीर सेवा-सहायता करता है; और संन्यासी, आध्यात्मिक सेवा-सहायता करता है।

"इस प्रकार वैयक्तिक और सामाजिक जीवन का सर्वांग-सम्पूर्ण, उत्तमोत्तम प्रबन्ध, परमात्मा के दर्शन पर निष्ठित प्रतिष्ठित वेद-वेदान्त से निर्दिष्ट, धर्म के अनुसार, बाँधा गया है।

"एक पर-ब्रह्म, परम-आत्मा, संख्यातीत, के अंतर्गत दो, अर्थात् पुरुष-प्रकृति; जीव की दो गति, अधोयान-ऊर्ध्वयान; समस्त संसार की द्वंद्व-मयता, (सुख-दुःख, सत्य-मिथ्या, राग-द्वेष, क्रिया-प्रतिक्रिया, तमः-प्रकाश, शीत-उष्ण, अग्नी-षोम, घन-तरल, मृदु-क्रूर, हँसना-रोना आदि); चार आश्रम; चार ऋण; चार जीविका; चार तोषण; चार गुणावस्था, (सात्त्विक, राजस, तामस, गुणातीत); चार शारीर अवयव, सिर, धड, हाथ, पैर; चार अंतःकरण के अंग, बुद्धि, अहंकार, मनस्, चित्त; चार इन के धर्म, ज्ञान, इच्छा, (संकल्प विकल्पात्मक) क्रिया, स्मृति; चार अवस्था, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय; चार प्राकृतिक नियम, अर्थात्, (१) जीव का, विविध योनियों में, विविध शरीरों का

---

[1] Honor ; official power, authority ; wealth ; amusement, play.

[2] Organism ; learned professions ; executive professions ; commercial professions; industrial professions.

ओढ़ना-ओढ़ना, (२) क्रिया-प्रतिक्रिया न्याय से परोपकार-रूप पुण्य का फल सुख, और पराऽपकार-रूप पाप का फल दुःख, भोगना, (३) वासना के अनुसार कर्म, और कर्म के अनुसार जन्म, और मरण, पुनःपुनः; (४) रागात्मक वासना से संसरण में प्रवृत्ति, वैराग्य से संसार से निवृत्ति। चार पुरुषार्थ, धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष—यह समग्र दर्शन और धर्म का संग्रह है।"

यदि इसके अनुसार, मानव प्रजा आचरण करै, तो सबका उचित रीति से, शिक्षण, रक्षण, पोषण, धारण, हो, और सब का कल्याण हो। यह चार वर्ण वा वर्ग वा पेशे, और चार आश्रम, स्वाभाविक हैं; मनुष्य की प्रकृति के ही बनाये हुये हैं; इनका किसी विशेष धर्म, मजहब, 'रिलिजन' से, वा किसी विशेष प्रदेश से, अविच्छेद्य सम्बन्ध जरा भी नहीं है। 'काम्युनिज्म, सोशालिज्म, बालशेविज्म,' 'साम्यवाद' की परिपाटी से, वा फ़ैशिज्म,' 'कैपिटलिज्म', 'पूंजीवाद' की पद्धति से, वा 'लेबरिज्म', 'प्रालिटेरियानिज्म' 'श्रमिकवाद' की रीति से, वा 'डेमोक्रैटिज्म', 'प्रजातंत्रवाद,' 'सर्वमानववाद' की शैली से, किसी से भी इन सिद्धांतो का आत्यंतिक विरोध नहीं है; यदि विरोध है, तो प्रत्येक के केवल उस अंश से है जो 'आत्यंतिक' है; प्रत्युत, सभी इनका उपयोग कर सकते हैं; सभी को शिक्षक, रक्षक, पोषक, सहायक चाहियें ही; जहां कहीं मनुष्य हैं और उनका समाज है, वहीं ये चार वर्ग उपस्थित हैं; भारत के प्राचीनों ने इतना ही विशेष किया है, कि मर्यादा बुद्धिपूर्वक बाँध दी है, और काम-दाम-आराम का बँटवारा उचित रीति से कर दिया है। जब तक मनुष्य के शरीर के अंग, और चित्त के धर्म, और दोनों की बनावट, वैसी रहेगी जैसी इस समय है, तब तक वर्ण और आश्रम के ये सिद्धांत अटल रहेंगे; और इन के प्रयोग से, तथा इनके ही प्रयोग से, सब अतिवाद, 'एक्सट्रीमिज्म', से उत्पन्न विरोधों का परिहार, और सब वादों का समन्वय, हो सकेगा।[1]

"एक आश्रम से दूसरे, तीसरे, चौथे में, क्रमशः, सब मनुष्य जायँ; तीन ऋण चुका कर, अर्थात् विद्याध्ययनाऽध्यापन कर के, संतान उत्पन्न कर के, (उतनी ही जितने का वह परिपालन सुख से कर सकैं; पशुओं के ऐसी इतनी अधिक नहीं कि उनका पालन न हो सकै, और अधिकांश उनमें से मर ही जावैं, या रोटी के लिये एक दूसरे के खून के प्यासे हो जावें), तथा विविध लोकोपकारात्मक यज्ञ करके, तब मोक्ष का साधन करैं; तो सबको चारो पुरुषार्थ सिद्ध हों।

---

[1] Religion; communism, socialism, Bolshevism; Fascism; capitalism; laborism; proletarianism; democratism; extremism.

"जो अपने में सबको, और सब में अपने को, देखता है, वही सच्चा स्वाराज्य, स्व-राज्य, उत्तम 'स्व' का राज्य, स्वर्गवत् राज्य, स्थापन कर सकता है। अपने भीतर आँख फेर कर देखने से, संसार के सब भाव, सद्भाव भी, असद्भाव भी, पुण्यात्मक भी, पापात्मक भी, सभी देख पड़ जाते हैं। इनको जो इस प्रकार से, अंतर्दृष्टि से, देख लेता है, और उनके भेद को निश्चय से समझ लेता है, द्वंद्वमय संसार में सत् और असत् के विवेक को भी और संसार को भी पहिचान लेता है, वह फिर अधर्म में मन को नहीं लगने देता। अधिकाधिक धर्म की ओर, वैराग्य की ओर, आत्मलाभ ब्रह्मलाभ की ओर, मोक्ष की ओर, चलता है। आत्मा ही सब देवों का देव है, सब इसी में विद्यमान है, यही सब जगत् का चलाने वाला है। इस तथ्य को जिसने जाना, वही समता, के, साम्य के, सच्चे अर्थ को पहिचानता है, वही शरीर छोड़ने पर विदेह-मोक्ष, ब्रह्म-पद को पाता है। यज्ञ, अध्ययन, दान, सदाचार, दम, अहिंसा आदि सब उत्तम गुणों, कर्मों, भावों, पुण्यों, व्यवस्थाओं का परम मूल आत्म-दर्शन ही है।"

"सब को, आभ्युदयिक सुख, दुनियावी खुशी, धर्म से अर्जित रक्षित अर्थ से परिष्कृत परिमार्जित काम का सुख भी, और उसके बाद, नैश्रेयसिक सुख भी, जिस से बढ कर कोई श्रेयस नहीं है, 'मै ही मै सब मे हूं, सब मुझ मे हैं, मेरे सिवा कोई दूसरा है ही नहीं"—इन दोनों सुखों को पाने का निश्चित उपाय जो दिखावे वही 'दर्शन' है; यही 'दर्शन' का 'प्रयोजन' है"।

यद् आभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकम् एव च,
सुखं साधयितुं मार्गं दर्शयेत् तद्धि दर्शनम्।

॥ ॐ ॥